

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्य
स्वविवृतिसहितलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

न्यायकुमुदचन्द्रः

[प्रथमो भागः]



स चायम्

काशीस्थश्रीस्याद्वादमहाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन
जैन-प्राचीनन्यायतीर्थं पं० महेन्द्रकुमारन्यायशास्त्रिणा
पाठान्तर-तुलनात्मकटिप्पणी-अवतरणनिर्देशादिभिः पूर्य कृत्य
संशोधितः, संपादितश्च ।



प्रकाशकः—

मन्त्री—श्री नाथूराम प्रेमी,
माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला
हीराबाग, गिरगाँव, बंबई नं० ४ ।

वीरनिर्वाणान्दाः २४६४.

विक्रमान्दाः १६६५.]

प्रथमावृत्ति ६०० प्रति.

[क्रिस्तान्दाः १६३८.



Set H 1 + 2 100

माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

जैनदर्शन-साहित्य-पुराण-आगमादिप्राचीनसाहित्योद्धारिका
जैनग्रन्थावलिः ।

साधुचरित-सदाशय-दानवीर-स्व० सेठ श्री माणिकचन्द्र-हीराचन्द्र जे. पी.
महाशयानां स्मरणकृते दि० जैनसमाजेन संस्थापिता ।



अथै० मन्त्री- { श्री पं० नाथूरामः प्रेमी, बम्बई ।
श्री प्रो० हीरालालः M. A. LL. B. अमरावती ।
कोषाध्यक्ष :- श्री ठाकुरदास-भगवान्दासः जवेरी बम्बई ।

ग्रन्थांक :- ३८.

प्राप्तिस्थानम्—

मन्त्री—श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

हीराबाग

पो० गिरगाँव, बम्बई नं० ४.



स्थापनाब्दाः]

सर्वेऽधिकाराः संरक्षिताः

[वि० सं० १६

NYÂYA-KUMUD-CHANDRA

OF

(ŚRÎMAT) PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

[VOL. 1.]

A commentary on *Bhattachakalankadêvas' Laghiyastya*.

EDITED WITH :—EXHAUSTIVE ANNOTATIONS, COMPARATIVE STUDY OF
JAIN, BUDDHIST AND VEDIC—PHILOSOPHIES, AND THE VARIANT
READINGS ETC.

15440

BY

PT. MAHENDRA KUMAR NYAYA SHASTRI

JAIN & PRÂCHÎN NYÂYÂTÎRTHA.

JAIN-DARŚANÂDHYÂPAK

ŚRÎ SYÂDVÂD DIG. JAIN MAHÂVIDYÂLAYA

KASHI.

J Sal
Pra/Mah

PUBLISHED BY

SECY. PANDIT NATHU RAM PREMI

MÂNIK CHANDRA DIG. JAIN SERIES.

HIRABAG, GIRGAON,

BOMBAY, 4.

V. E. 1995]

First Edition, 600 Copies.

[1938 A. D.

MÂNIK CHANDRA DIG. JAIN GRANTHMÂLÂ.

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL, PHILOSOPHICAL,
HISTORICAL, LITERARY, NARRATIVE ETC. WORKS OF JAIN LITERATURE
IN PRÂKRITA, SÂMSKRÏT AND APABHRÂMŚA.

FOUNDED

BY

THE DIG. JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

Late, Dânvîr, Sêth Mânik Chandra Hira Ch.

JUSTICE OF PEACE. BOMBAY.

NUMBER 38

HON. SECRETARIES:—

Pandit Nathu Ram Premi, Bombay.

Prof. Hiralal, M.A., LL.B. Amraoti.

CASHIER:—

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, Bombay.

PUBLISHED BY

Secy. MÂNIK CH. DIG. JAIN SERIES

HIRABAG,

Post Girgaon, BOMBAY, 4.

Founded]

All rights reserved.

[1915 A.D.

CENTRAL ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

1544
13/5/58
Call No. J. Sal. Pra. Mah.

न्यायकुमुदचन्द्र-प्रथमभाग की विषयसूची.

| विषय | पृष्ठ | विषय | पृष्ठ |
|---|----------|-----------------------------------|--------|
| निवेदन | vii-viii | तृतीय परिच्छेद | १४-१६ |
| प्राक्कथन | ix-xiii | चतुर्थ परिच्छेद | १६-१७ |
| सम्पादकीयं किञ्चित् | xiv-xx | पञ्चम परिच्छेद | १७-१९ |
| (सम्पादनगाथा, संस्करणपरिचय, प्रतिपरिचय, आभारप्रदर्शन आदि) | | षष्ठ परिच्छेद | १९-२१ |
| प्रस्तावना | १-१२६ | सप्तम परिच्छेद | २१-२२ |
| ग्रन्थ परिचय | १-४ | लघीयस्त्रय के दार्शनिक मन्तव्य | २२-२४ |
| लघीयस्त्रय | १ | श्रीमद्भट्टकलङ्क | २४-११४ |
| विवृति | ४ | प्राक्कथन | २४-२५ |
| न्यायकुमुदचन्द्र | ४ | अकलंक नाम के अन्य विद्वान् | २५-२६ |
| ग्रन्थों पर समालोचनात्मक विचार | ४-१२ | जन्म भूमि और पितृकुल | २६-२७ |
| लघीयस्त्रय सविबृति | ४-७ | बाल्यकाल और शिक्षा | २७-३० |
| प्रकरणग्रन्थ | ४ | विद्यार्थीजीवन और संकट | ३०-३२ |
| रचनाशैली | ५ | निष्कलंक ऐतिहासिक व्यक्ति वहाँ | ३२-३४ |
| लघीयस्त्रय और विवृति में आगत | | हंस परमहंस की कथा | ३४-३५ |
| विशेष नाम आदि | ६ | शास्त्रार्थी अकलंक | ३५-४१ |
| न्यायकुमुदचन्द्र | ७-१२ | ग्रन्थकार अकलंक | ४१-५८ |
| नाम | ७ | तत्त्वार्थराजवातिक | ४३-४४ |
| रचना शैली | ८ | अष्टशती | ४५-४६ |
| न्यायकुमुदचन्द्र की इतर दर्शनों | | लघीयस्त्रय | ४६ |
| से तुलना | ९-११ | स्वोपज्ञ विवृति | ४६ |
| न्यायदर्शन | ९ | न्यायविनिश्चय | ४७-४८ |
| प्रभाचन्द्र और मञ्जरीकार जयन्त | १० | न्यायविनिश्चयवृत्ति | ४८-४९ |
| वैशेषिकदर्शन | १० | सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति) | ५०-५२ |
| सांख्ययोग | १० | प्रमाणसंग्रह | ५२-५३ |
| वेदान्तदर्शन | १० | वृहत्त्रय | ५३-५४ |
| मीमांसादर्शन | १० | न्यायचूल्का | ५४ |
| बौद्धदर्शन | ११ | स्वरूपसम्बोधन | ५४-५५ |
| वैयाकरणदर्शन | ११ | अकलंकस्तोत्र | ५५-५७ |
| जैनाचार्य | ११ | अकलंक प्रतिष्ठापाठ | ५७ |
| विषय परिचय | १२-२२ | अकलंक प्रायश्चित्त | ५७ |
| प्रथम परिच्छेद | १२-१४ | अकलंक का व्यक्तित्व | ५८-६० |
| द्वितीय परिच्छेद | १४ | जैनन्यायके प्रस्थापक अकलंक | ६०-६१ |
| | | अकलंकके पूर्व जैन न्यायकी रूपरेखा | ६१-६४ |
| | | अकलंक और जैनाचार्य | ७०-८४ |

| विषय | पृष्ठ | विषय | पृष्ठ |
|--------------------------------|-------|---------------------------------|---------|
| कुन्दकुन्द और अकलंक | ७० | अर्घट और अकलंक | ६७ |
| उमास्वाति और अकलंक | ७० | शंकराचार्य और अकलंक | ६८ |
| भाष्यकार और अकलंक | ७१ | वाचस्पति और अकलंक | ६८ |
| समन्तभद्र और अकलंक | ७१-७२ | अकलंक देव का समय | ९८-११० |
| सिद्धसेनदिवाकर और अकलंक | ७२-७३ | समकालीन विद्वान | १११ |
| श्रीदत्त और अकलंक | ७३ | पुण्यषेण और वादीभसिंह | १११-११४ |
| पूज्यपाद और अकलंक | ७३ | कुमारसेन और कुमारनन्दि | ११३ |
| पात्रकेसरी और अकलंक | ७३-७६ | वीरसेन | ११३ |
| मल्लवादि और अकलंक | ७६ | परवादि मल्लदेव | ११३ |
| जिनभद्रगणि और अकलंक | ७६-७८ | श्रीपाल | ११३ |
| हरिमद्र और अकलंक | ७८ | माणिक्यनन्दि | ११३ |
| सिद्धसेनगणि और अकलंक | ७८ | विद्यानन्द | ११३ |
| विद्यानन्द और अकलंक | ७९ | अनन्तवीर्य | ११४ |
| माणिक्यनन्दि और अकलंक | ७९-८१ | प्रभाचन्द्र | ११४ |
| वातिककार और अकलंक | ८१-८२ | न्यायकुमुद के कर्ता प्रभाचन्द्र | ११४-११७ |
| वादिराज और अकलंक | ८२ | प्रभाचन्द्र का समय | ११७-१२३ |
| अभयदेव और अकलंक | ८३ | प्रभाचन्द्र का बहुश्रुतत्व | १२३ |
| हेमचन्द्र और अकलंक | ८३ | प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ | १२४ |
| वादिदेव और अकलंक | ८३ | प्रमेयकमलमार्तण्ड | १२४ |
| विमलदास और अकलंक | ८४ | न्यायकुमुदचन्द्र | १२४ |
| धर्मभूषण और अकलंक | ८४ | तत्त्वार्थवृत्ति | १२४-१२४ |
| यशोविजय और अकलंक | ८४ | शाकटायनन्यास | १२४ |
| अकलंक और जैनतर ग्रन्थकार | ८४-९८ | आत्मनिवेदन, आभार प्रदर्शन | १२५-२६ |
| पतञ्जलि और अकलंक | ८४ | प्रस्तावनोपयुक्तग्रन्थसूची | १-२ |
| वसुबन्धु और अकलंक | ८४ | ग्रन्थसंकेतविवरण | 1-8 |
| दिङ्नाग और अकलंक | ८५ | मूलग्रन्थका विषयानुक्रम | 9-88 |
| धर्मकीर्ति और अकलंक | ८५-८८ | न्यायकुमुदचन्द्र (मूलग्रन्थ) | १-४०२ |
| भर्तृहरि और अकलंक | ८८-८९ | श्र० प्रति के पाठान्तर | ४०३-४०८ |
| कुमारिल और अकलंक | ८९-९३ | शुद्धिपत्र | ४०८ |
| शास्त्रभद्र और अकलंक | ९३ | | |
| धर्मोत्तर, प्रज्ञाकार और अकलंक | ९३-९७ | | |



निवेदन

माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थमाला का यह ३८ वाँ ग्रन्थ पाठकों के सामने उपस्थित किया जा रहा है। इस माला को प्रारंभ हुए लगभग २२ वर्ष हो चुके। शुरू से ही मैं इसकी यथाशक्य सेवा कर रहा हूँ। इसके लिए समाज से अब तक लगभग १५-१६ हजार रुपये मिले होंगे जो स्टॉक के रूप में अब भी सुरक्षित हैं; मूलधन में कोई घाटा नहीं है; यदि स्टॉक के मूल्य को मूलधन समझा जाय तो।

जिस समय ग्रन्थ माला का आरंभ हुआ उस समय ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करना बहुत कठिन था और उससे भी अधिक कठिन था सम्पादन संशोधन करने वाले योग्य विद्वानों को पा लेना। आधुनिक सम्पादन पद्धति के जानकार परिश्रमी और बहुश्रुत विद्वानों का तो एक तरह से अभाव ही था। इस कारण अब तक प्रकाशन का कार्य बहुत मन्द गति से हुआ और जो कुछ हुआ उससे केवल इतना ही सन्तोष किया जा सकता है कि किसी तरह इतने ग्रन्थ प्रकाश में आ गये, एक समय जो दुर्लभ थे वे सुलभ हो गये, भले ही उनके संस्करण विशेष उत्तम और उपयोगी न हों।

परन्तु अब हस्तलिखित प्रतियाँ प्रयत्न करने से उपलब्ध होने लगी हैं और सुहृद् प्रो० हीरालाल जी जैन, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० पी० एल० वैद्य, पं० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री, पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, आदि ग्रन्थ-सम्पादन-कार्यदर्शक विद्वानों का भी सहयोग मिलने लगा है, जिससे ग्रन्थ प्रकाशन कार्य खूब तेजी से किया जा सकता है, करने का उत्साह भी है। परन्तु इधर बीच में ही आर्थिक प्रश्न आकर खड़ा हो गया है, “द्राक्षाप्रपाकसमये सुखपाको भवति” वाली बात हो गई है, ग्रन्थ माला का फण्ड समाप्तप्राय है और जो कुछ रुपया शेष है, उससे मुश्किल से न्यायकुमुदचन्द्र का द्वितीय खण्ड ही प्रकाशित हो सकेगा। महापुराण के उत्तर खण्ड (उत्तर पुराण) का काम तो बन्द ही कर देना पड़ा है। यद्यपि मागधी और अपभ्रंश भाषाओं के दिग्गज विद्वान् डॉ० पी० एल० वैद्य महोदय ने अतिशय परिश्रम से उसकी प्रेस-कापी तैयार कर रखी है।

पिछले २२ वर्षों में मैंने कभी यह महसूस ही नहीं किया था कि कभी रुपयों के अभाव में प्रकाशन-कार्य को रोक देना पड़ेगा। क्योंकि-वर्ष में जितना रुपया खर्च होता था, लगभग उतनी बिक्री हो जाती थी और सौ दो सौ रुपया ऊपर से सहायता भी मिल जाती थी। परन्तु इधर हरिवंशपुराण, पद्मचरित, महापुराण, न्यायकुमुदचन्द्र आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों में अनुमान से अधिक रुपया लग गया, बिक्री कुछ बढ़ी नहीं और सहायता भी इस समय जितनी मिलनी चाहिए थी उतनी नहीं मिली। ऐसी दशा में तब तक के लिए कार्य स्थगित कर देने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है जब तक कि ग्रन्थों की बिक्री से अथवा धनियों की सहायता से काम चलाऊ धन एकत्र न हो जाय।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की मंजूरी ग्रन्थमाला की प्रबन्धकारिणी कमेटी से अब से लगभग १६ वर्ष पहले ली जा चुकी थी और उसी समय कुछ प्रेस-कापी भी करा ली गई थी; प्रबल इच्छा थी कि यह महान् ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय; परन्तु यथेष्ट मूल प्रतियों के प्राप्त न हो सकने और सुयोग्य सम्पादक के न मिलने से काम रुक गया और अब इतने लम्बे समय के बाद वह इच्छा पूर्ण हो रही है और जिस रूप में हो रही है उसे देखकर कम से कम मुझे तो यथेष्ट सन्तोष है। श्रद्धेय पं० सुखलाल जी के शब्दों में सचमुच ही इस ग्रन्थ के द्वारा दिगम्बरीय साहित्य में प्रकाशन कार्य का एक नया युग प्रारम्भ होता है। अब तक हमारा एक भी ग्रन्थ इस ढंग से सुसम्पादित होकर प्रकाशित नहीं हुआ है।

जैनसमाज के असाधारण विद्वान् ब्रह्माचल पं० सुखलाल जी के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को इस रूपमें सम्पादित करने के लिए सम्पादकद्वय को उत्साहित किया, अमूल्य सूचनाएँ दीं, साधन-सामग्री जुटाने में हर तरह से सहायता दी और इस ग्रन्थ के लिए प्राक्कथन के रूप में हमारे सम्प्रदाय और उसके साहित्य के सम्बन्ध में अपने बहुमूल्य विचार उपस्थित किये।

इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है और प्रयत्न किया जा रहा है कि वह यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित हो जाय।

ग्रन्थों के मूल्य के सम्बन्ध में कुछ शुभचिन्तकों ने शिकायत की है कि वह पहले की अपेक्षा ज्यादा रक्खा गया है। इसे हम स्वीकार करते हैं; परन्तु इसका कारण एक तो यह है कि पिछले ग्रन्थों के सम्पादन संशोधन और साधन-सामग्री जुटाने में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक खर्च हुआ है, दूसरे संख्या में भी ये पांच-छह सौ से अधिक नहीं छपाये गये हैं, तीसरे अब सौ रुपया या इससे अधिक देने वाले सहायकों को प्रत्येक ग्रन्थ की एक एक प्रति बिना मूल्य देने का नियम बन गया है जिससे प्रत्येक ग्रन्थ की लगभग सौ प्रतियाँ यों ही चली जाती हैं। इसके सिवाय दूकानदारों को कमीशन भी देना पड़ता है। ऐसी दशा में लागत बढ़ जाना अनिवार्य है और इससे मूल्य अधिक रखना पड़ता है।

पाठकों को विश्वास रखना चाहिए कि ग्रन्थमाला का उद्देश्य प्राचीन साहित्य का उद्धार करना है, कमाई करना नहीं; फिर भी यदि ग्रन्थमाला के फण्ड में इस बढ़े हुए मूल्य से कुछ अधिक धन आ जायगा तो वह ग्रन्थोद्धार के कार्य में ही लगेगा।

हिराबाग, बम्बई }
३-७-३८ }

निवेदक—

नाथूराम प्रेमी
मन्त्री

प्रारम्भिक

यदि श्रीमान् प्रेमीजी का अनुरोध न होता जिन्हें कि मैं अपने इने गिने दिगम्बर मित्रों में सबसे अधिक उदार विचार वाले, साम्प्रदायिक होते हुए भी असाम्प्रदायिक दृष्टिवाले तथा सबी लगेन से दिगम्बरीय साहित्य का उत्कर्ष चाहने वाले समझता हूँ, और यदि न्यायकुमुदचन्द्र के प्रकाशन के साथ थोड़ा भी मेरा सम्बन्ध न होता, तो मैं इस वक्त शायद ही कुछ लिखता।

दिगम्बर-परम्परा के साथ मेरा तीस वर्ष पहले अध्ययन के समय से ही, सम्बन्ध शुरू हुआ, जो बाह्य-आभ्यन्तर दोनों दृष्टि से उत्तरोत्तर विस्तृत एवं घनिष्ठ होता गया है। इतने लंबे परिचय में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के सम्बन्ध में आदर एवं अति तटस्थता के साथ जहाँ तक हो सका मैंने कुछ अवलोकन एवं चिंतन किया है। मुझको दिगम्बरीय परम्परा की मध्यकालीन तथा उत्तरकालीन साहित्यिक प्रवृत्ति में एक विरोध सा नजर आया। नमस्करणीय स्वामी समंतभद्र से लेकर वादिराज तक की साहित्य प्रवृत्ति देखिये और इसके बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति देखिये। दोनों का मिलान करने से अनेक विचार आते हैं। समंतभद्र, अकलङ्क आदि विद्वद्रूप आचार्य चाहे बनवासी रहे हों, या नगरवासी; फिर भी उन सबों के साहित्य को देखकर एक बात निर्विवाद रूप से माननी पड़ती है कि उन सबों की साहित्यिक मनोवृत्ति बहुत ही उदार एवं संग्राहिणी रही। ऐसा न होता तो वे बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा की सब दार्शनिक शाखाओं के सुलभ दुर्लभ साहित्य का न तो अध्ययन ही करते और न उसके तत्त्वों पर अनुकूल प्रतिकूल समालोचना-योग्य गंभीर चिंतन करके अपना साहित्य समृद्धतर बना पाते। यह कल्पना करना निराधार नहीं कि उन समर्थ आचार्यों ने अपने त्याग व दिगम्बरत्व को कायम रखने की चेष्टा करते हुए भी अपने आस पास ऐसे पुस्तक संग्रह किये, कराये कि जिनमें अपने सम्प्रदाय के समग्र साहित्य के अलावा बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा के महत्त्वपूर्ण छोटे बड़े सभी ग्रन्थों का संचय करने का भरसक प्रयत्न हुआ। वे ऐसे संचय मात्र से भी संतुष्ट न रहते थे, पर उनके अध्ययन अध्यापन कार्य को अपना जीवन-क्रम बनाये हुए थे। इसके बिना उनके उपलब्ध ग्रन्थों में देखा जाने वाला विचार-वैशद्य व दार्शनिक पृथक्करण संभव नहीं हो सकता। वे उस विशाल-राशि तत्कालीन भारतीय-साहित्य के चिंतन, मनन रूप दोहन में से नवनीत जैसी अपनी कृतियों को बिना बताये भी संतुष्ट न होते थे। यह स्थिति मध्यकाल की रही। इसके बाद के समय में हम दूसरी ही मनोवृत्ति पाते हैं। करीब बारहवीं शताब्दी से लेकर २० वीं शताब्दी तक के दिगम्बरीय साहित्य की प्रवृत्ति देखने से जान पड़ता है कि इस युग में वह मनोवृत्ति बदल गई। अगर ऐसा न होता तो कोई कारण न था कि बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक जहाँ न्याय, वेदान्त, मीमांसा, अलंकार, व्याकरण आदि विषयक साहित्य का भारतवर्ष में इतना अधिक, इतना व्यापक और इतना सूक्ष्म विचार व विकास हुआ, वहाँ दिगम्बर-परम्परा इससे बिल्कुल अछूत-सी रहती। श्रीहर्ष, गंगेश, पञ्चधर, मयसुन्दन, अप्ययदीक्षित, जगन्नाथ आदि जैसे नवयुग प्रस्थापक ब्राह्मण विद्वानों के साहित्य से भरे हुए इस युग में दिगम्बर साहित्य का उससे बिल्कुल अछूत रहना अपने पूर्वाचार्यों की मनोवृत्ति के विरुद्ध मनोवृत्ति का सुवृत्त है। अगर वादिराज के बाद भी दिगम्बरपरम्परा की साहित्यिक मनोवृत्ति पूर्ववत् रहती तो उसका साहित्य कुछ और ही होता।

कारण कुछ भी हो पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि पिछले भट्टारकों और पंडितों की मनोवृत्ति ही बदल गई और उसका प्रभाव सारी परंपरा पर पड़ा जो अब तक स्पष्ट देखा जाता है और जिसके चिह्न उपलब्ध प्रायः सभी भाण्डारों, वर्तमान पाठशालाओं की अध्ययन अध्यापन प्रणाली और पंडित-मंडली की विचार व कार्यशैली में देखे जाते हैं।

अभी तक मेरे देखने सुनने में ऐसा एक भी पुराना दिगम्बर-भाण्डार या आधुनिक पुस्तकालय नहीं आया जिसमें बौद्ध, ब्राह्मण और श्वेताम्बर परम्परा का समग्र साहित्य या अधिक महत्व का मुख्य साहित्य संगृहीत हो। मैंने दिगम्बर परम्परा की एक भी ऐसी संस्था नहीं देखी या सुनी कि जिसमें समग्र दर्शनों का आमूल अध्ययन चिंतन होता हो। या उसके प्रकाशित किये हुए बहुमूल्य प्राचीन ग्रन्थों का संस्करण या अनुवाद ऐसा कोई नहीं देखा जिसमें यह विदित हो कि उसके सम्पादकों या अनुवादकों ने उतनी विशालता व तटस्थता से उन मूल ग्रन्थों के लेखकों की मौति नहीं तो उनके शतांश या सहस्रांश भी श्रम किया हो।

एक तरफ से परम्परा में पाई जानेवाली उदात्त शास्त्रभक्ति, आर्थिक सहूलियत और बुद्धिशाली पंडितों की बड़ी तादाद के साथ जब आधुनिक युग के सुभीते का विचार करता हूँ, तथा दूसरी भारतवर्षीय परंपराओं की साहित्यिक उपासना को देखता हूँ और दूसरी तरफ दिगम्बरीय साहित्य क्षेत्र का विचार करता हूँ तब कम से कम मुझको तो कोई संदेह ही नहीं रहता कि यह सब कुछ बदली हुई संकुचित या एकदेशीय मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

मेरा यह भी चिरकाल से मनोरथ रहा है कि हो सके उतनी त्वरा से दिगम्बर परम्परा की यह मनोवृत्ति बदल जानी चाहिए। इसके बिना वह न तो अपना ऐतिहासिक व साहित्यिक पुराना अनुपम स्थान संभाल सकेगी और न वर्तमान युग में सबके साथ बराबरी का स्थान पा सकेगी। यह भी मेरा विश्वास है कि अगर यह मनोवृत्ति बदल जाय तो उस मध्यकालीन थोड़े, पर असाधारण महत्व के, ऐसे ग्रन्थ उसे विरासत लभ्य है जिनके बल पर और जिनकी भूमिका के ऊपर उत्तरकालीन और वर्तमान युगीन सारा मानसिक विकास इस वक्त भी बड़ी खूबी से समन्वित व संगृहीत किया जा सकता है।

इसी विश्वास ने मुझ को दिगम्बरीय साहित्य के उपादेय उत्कर्ष के वास्ते कर्तव्य रूप से मुख्यतया तीन बातों की ओर विचार करने को बाधित किया है।

(१) समंतभद्र, अकलंक, विद्यानंद आदि के ग्रन्थ इस ढंग से प्रकाशित किये जायँ जिससे उन्हें पढ़ने वाले व्यापक दृष्टि पा सकें और जिनका अवलोकन तथा संग्रह दूसरी परम्परा के विद्वानों के वास्ते अनिवार्यसा हो जाय।

(२) आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, अष्टशती, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों के अनुवाद ऐसी मौलिकता के साथ तुलनात्मक व ऐतिहासिक पद्धति से किये जायँ, जिससे यह विदित हो कि उन ग्रन्थकारों ने अपने समय तक की कितनी विद्याओं का परिशीलन किया था और किन किन उपादानों के आधारपर उन्होंने अपनी कृतियाँ रची थीं तथा उनकी कृतियों में सन्निविष्ट विचार-परंपराओं का आज तक कितना और किस तरह विकास हुआ है।

(३) उक्त दोनों बातों की पूर्ति का एक मात्र साधन जो सर्वसंग्राही पुस्तकालयों का निर्माण, प्राचीन भाण्डारों को पूर्ण व व्यवस्थित खोज तथा आधुनिक पठन प्रणाली में आमूल परिवर्तन है, वह जल्दी से जल्दी करना।

मैंने यह पहले ही सोच रक्खा था कि अपनी ओर से बिना कुछ किये औरों को कहने का कोई विशेष अर्थ नहीं। इस दृष्टि से किसी समय आत्मसीमांसा का अनुवाद मैंने प्रारम्भ भी किया, जो पीछे रह गया। इस बीच में सन्मतितर्क के संपादन काल में कुछ अपूर्व दिगम्बरीय ग्रन्थरत्न मुझे मिले, जिनमें से सिद्धिविनिश्चय टीका एक है। न्यायकुमुदचन्द्र की लिखित प्रति जो 'आ०' संकेत से प्रस्तुत संस्करण में उपयुक्त हुई है वह भी श्रीयुत प्रेमीजी के द्वारा मिली। जब मैंने उसे देखा तभी उसका विशिष्ट संस्करण निकालने की वृत्ति बलवत्तर हो गई। उधर प्रेमीजी का तकाजा कि मद्द मैं यथा संभव करूँगा पर इसका सन्मति जैसा तो संस्करण निकालो ही। इधर एक साथ अनेक बड़े काम जिम्मे न लेने की निजी मनोवृत्ति। इस द्वंद्व में दश वर्ष बीत गये। मैंने इस बीच दो बार प्रयत्न भी किये पर वे सफल न हुए। एक उद्देश्य मेरा यह रहा कि कुमुदचन्द्र जैसे दिगम्बरीय ग्रन्थों के संस्करण के समय योग्य दिगम्बर पंडितों को ही सहचारी बनाऊँ जिससे फिर उस परम्परा में भी स्वावलंबी चक्र चलता रहे। इस धारणा से अहमदाबाद में दो बार अलग अलग से, दो दिगंबर पंडितों को भी, शायद सन् १९२६-२७ के आसपास, मैंने बुलाया पर कामयाबी नहीं हुई, वह प्रयत्न उस समय वहीं रहा, पर प्रेमीजी के तकाजे और निजी संकल्प के दश उसका परिपाक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, जिसे मूर्त करने का अवसर १९३३ की जुलाई में काशी पहुँचते ही मुझे दिखाई दिया।

पं० कैलाशचन्द्रजी तो प्रथम से ही मेरे परीचित थे, पं० महेन्द्रकुमारजी का परिचय नया हुआ। मैंने देखा कि ये दोनों विद्वान् कुमुद का कार्य करें तो उपयुक्त समय और सामग्री है। दोनों ने बड़े उत्साह से काम को अपनाया और उधर से प्रेमीजी ने कार्य साधक आयोजन भी कर दिया, जिसके फल स्वरूप यह प्रथम भाग सबके सामने उपस्थित है।

इसे तैयार करने में पंडित महाशयों ने कितना और किस प्रकार का श्रम किया है उसे सभी अभिज्ञ अभ्यासी आप ही आप जान सकेंगे। अतएव मैं उस पर कुछ न कह कर सिर्फ प्रस्तुत भाग गत टिप्पणियों के विषय में कुछ कहना उपयुक्त समझता हूँ।

मेरी समझ में प्रस्तुत टिप्पणियाँ दो दृष्टि से की गई हैं। एक तो यह कि ग्रन्थकार ने जिस जिस मुख्य और गौण मुद्दे पर जैनमत दर्शाते हुए अनुकूल या प्रतिकूल रूप से जैनेतर बौद्ध ब्राह्मण परम्पराओं के मतों का निर्देश व संग्रह किया है वे मत और उन मतों की पोषक परम्पराएँ उन्हीं के मूलभूत ग्रन्थों से बतलाई जायँ ताकि अभ्यासी ग्रन्थकार की प्रामाणिकता जानने के अलावा यह भी सविस्तर जान सके कि अमुक मत या उसकी पोषक परम्परा किन मूलग्रन्थों पर अवलंबित है और उसका असली भाव क्या है? इस जानकारी से अभ्यासशील विद्यार्थी या पंडित प्रभावचन्द्रवर्णित दर्शनान्तरीय समस्त संक्षिप्त मुद्दों को अत्यन्त स्पष्टता पूर्वक समझ सकेंगे और अपना स्वतन्त्र मत भी बाँध सकेंगे। दूसरी दृष्टि टिप्पणियों के विषय में यह रही है कि प्रत्येक मन्तव्य के तात्त्विक और साहित्यिक इतिहास की सामग्री उपस्थित की जाय जो तत्त्वज्ञ और ऐतिहासिक दोनों के संशोधन कार्य में आवश्यक है।

अगर प्रस्तुत भाग के अभ्यासी उक्त दोनों दृष्टियों से टिप्पणियों का उपयोग करेंगे तो वे टिप्पणियाँ सभी दिगम्बर श्वेताम्बर न्याय प्रमाण ग्रन्थों के वास्ते एक सी कार्य साधक सिद्ध होंगी। इतना ही नहीं; बल्कि बौद्ध ब्राह्मण-परम्परा के द्धार्शनिक साहित्य की अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने में भी काम देंगी। उदाहरणार्थ—

‘धर्म’ पर की टिप्पणियों को लीजिये। इससे यह विदित हो जायगा कि ग्रन्थकार ने जो जैन सम्मत धर्म के विविध स्वरूप बतलाये हैं उन सबके मूल आधार क्या क्या हैं। इसके साथ साथ यह भी मालूम पड़ जायगा कि ग्रन्थकार ने धर्म के स्वरूप विषयक जिन अनेक मतान्तरों का निर्देश व खण्डन किया है वे हर एक मतान्तर किस किस परम्परा के हैं और वे उस परम्परा के किन किन ग्रन्थों में किस तरह प्रतिपादित हैं। यह सारी जानकारी एक संशोधक को भारतवर्षीय धर्म विषयक मन्तव्यों का आन्खशिख इतिहास लिखने तथा उनकी पारस्परिक तुलना करने की महत्त्व पूर्ण प्रेरणा कर सकती है। यही बात अनेक छोटे बड़े टिप्पणों के विषय में कही जा सकती है।

प्रस्तुत संस्करण से दिगम्बरीय साहित्य में नव प्रकाशन का जो मार्ग खुला होता है, वह आगे के साहित्य-प्रकाशन में पथ प्रदर्शक भी हो सकता है। राजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि अनेक उक्तृष्टतर ग्रन्थों का जो अपकृष्टतर प्रकाशन हुआ है उसके स्थान में आगे अब कैसा होना चाहिए, इसका नह नमूना है जो माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला में दिगम्बर पण्डितों के द्वारा ही तैयार होकर प्रसिद्ध हो रहा है।

ऐसे टिप्पणीपूर्ण ग्रन्थों के समुचित अध्ययन अध्यापन के साथ ही अनेक इष्ट परिवर्तन शुरू होंगे। अनेक विद्यार्थी व पण्डित विविध साहित्य के परिचय के द्वारा सर्वसंग्राही पुस्तकालय निर्माण की प्रेरणा पा सकेंगे, अनेक विषयों के, अनेक ग्रन्थों को देखने की रुचि पैदा कर सकेंगे। अंत में महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के असाधारण-योग्यतावाले अनुवादों की कमी भी उसी प्रेरणा से दूर होगी। संक्षेप में यों कहना चाहिए कि दिगम्बरीय साहित्य की विशिष्ट और महती आन्तरिक विभूति सर्वोपादेय बनाने का युग शुरू होगा।

टिप्पणियाँ और उन्हें जमाने का क्रम ठीक है फिर भी कहीं कहीं ऐसी बात आ गई है जो तटस्थ विद्वानों को अखर सकती है। उदाहरणार्थ ‘प्रमाण’ पर के अवतरण-संग्रह को लीजिये इसके शुरू में लिख तो यह दिया गया है कि क्रम-विकसित प्रमाण-लक्षण इस प्रकार हैं। पर फिर उन प्रमाण-लक्षणों का क्रम जमाते समय क्रम विकास और ऐतिहासिकता भुला दी गई है। तटस्थ विचारक को ऐसा देख कर यह कल्पना हो जाने का संभव है कि जब अवतरणों का संग्रह सम्प्रदायवार जमाना इष्ट था तब वहाँ क्रम-विकास शब्द के प्रयोग की जरूरत क्या थी ?

ऊपर की सूचना में इसलिए करता हूँ कि आर्यदा अगर ऐतिहासिक दृष्टि से और क्रम विकास दृष्टि से कुछ भी निरूपण करना हो तो उसके महत्त्व की और विशेष ख्याल रहे। परंतु ऐसी मामूली और अगण्य कमी के कारण प्रस्तुत टिप्पणियों का महत्त्व कम नहीं होता।

अंत में दिगम्बर परम्परा के सभी निष्णात और उदार पंडितों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अब विशिष्ट शास्त्रीय अध्यवसाय में लग कर सर्व संग्राह्य हिंदी अनुवादों की बड़ी भारी कमी को जल्दी से जल्दी दूर करने में लग जायें और प्रस्तुत कुमुदचन्द्र के संस्करण को भी मुला देने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संस्करण तैयार करें।

विद्याप्रिय और शास्त्रभक्त दिगम्बर धनिकों से मेरा अनुरोध है कि वे ऐसे कार्यों में पंडित-मंडली को अधिक से अधिक सहयोग दें।

न्यायकुमुदचन्द्र के छपे ४०२ पेज, अर्थात् मूल मात्र पहला भाग मेरे सामने है। केवल उसी को देखकर मैंने अपने विचार यहाँ लिखे हैं। यद्यपि जैन-परम्परा के स्थानक वासी और श्वेताम्बर फिरकों के साहित्य तथा तद्विषयक मनोवृत्ति के चढ़ाव उतार के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहने योग्य है। इसी तरह ब्राह्मण-परम्परा की साहित्य विषयक मनोवृत्ति के जुड़े जुड़े रूप भी जानने योग्य हैं। फिर भी मैंने यहाँ सिर्फ दिगम्बर-परम्परा को ही लक्ष्य में रख कर लिखा है। क्योंकि यहाँ बही प्रस्तुत है और ऐसे संक्षिप्त प्राकथन में अधिक चर्चा की गुंजाइश भी नहीं।

हिन्दू विश्वविद्यालय

२६-४-३८

— सुखलाल संघवी

[जैनदर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय काशी।

भूतपूर्वाचार्य गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद।]



सम्पादकीयं किञ्चित्

सम्पादन गाथा-सन् १९३३ के मार्च की बात है, ग्रन्थमाला के मन्त्री पं० नाथूरामजी प्रेमी की कुछ ग्रन्थों के अन्वेषणार्थ एक सूचना निकली। उसका उत्तर देना ही इस ग्रन्थ के सम्पादन का श्री गणेश है।

प्रेमीजी की इच्छा रही कि इसका सम्पादन सम्मतितर्क सरीखा महत्त्वपूर्ण एवं सामग्री-सम्पन्न हो। सौभाग्य से सम्मतितर्क के सम्पादक पं० सुखलाल जी सा० काशी विश्वविद्यालय में जैनदर्शन के अध्यापक होकर आए और वे ही अपने हाथ से प्रेमी जी का वह पत्र लाए जिसमें न्यायकुमुदचन्द्र के सुसम्पादन की खास प्रेरणा थी। मैंने पं० कैलाशचन्द्र जी से सम्पादन में यथाशक्ति सहायता का वचन मिलने पर सम्पादन-कार्य शुरू किया।

पं० सुखलाल जी के नित्योत्साह तथा सुनिश्चित कार्यपद्धति के अनुसार इसका कार्य चालू किया गया। इसी बीच पंडितजी के साथ तत्त्वोपप्लवसिंह, प्रमाणमीमांसा, जैनतर्कभाषा तथा ज्ञानविन्दु के सम्पादन में कार्य करने का अवसर मिला। इन ग्रन्थों के सम्पादन निमित्त देखी गई प्रचुर जैन-जैनैतर ग्रन्थ राशि का न्यायकुमुदचन्द्र में, तथा न्यायकुमुदचन्द्र के लिए देखे गए ग्रन्थसमुदाय का उक्तग्रन्थों में खूब उपयोग हुआ। करीब २२५ ग्रन्थों का तो इसी ग्रन्थ की दिष्णयी सङ्कलित करने में उपयोग किया है। जिसमें प्रमाणसंग्रह, सिद्धिविनिश्चयटीका, नयचक्र-वृत्ति, न्यायविनिश्चयविवरण, तत्त्वोपप्लवसिंह, हेतुविन्दुटीका जैसे अलभ्य लिखितग्रंथ तथा प्रमाणवार्तिक, वार्तिकालंकार, वादन्याय जैसी दुर्लभ मूफ पुस्तकें भी शामिल हैं।

ब० और ज० प्रति में शक्तिनिरूपण के बाद करीब २२ पत्र का पाठ छूटा है। ये पत्र आ० प्रति में अर्ध त्रुटित थे। इस पाठ की पूर्ति के लिए हमने उत्तर प्रान्तकी आरा, व्यावर, खुरजा, इन्दौर, ललितपुर आदि स्थानों की प्रतियों की जांच कराई तो मालूम हुआ कि सभी प्रतियों में उक्त पाठ छूटा ही हुआ है। अन्ततो गृत्वा भाण्डारकर-प्राच्यविद्यासंशोधन-मन्दिर पूना की ताड़पत्रवाला प्रति से उक्त पाठ की पूर्ति करने की आज्ञा से पूना गया। और वहाँ १ माह रहकर एक कनड़ी जानकार की सहायता से वह २२ पत्र का टूटा हुआ पाठ पूरा करके ग्रन्थ को अखंड किया। पीछे से श्रवणवेलगोला से भट्टारक श्री चारुकीर्ति द्वारा भेजी गई ताड़पत्र की प्रति मिल जाने से उसके पाठान्तर भी ग्रन्थ के इस भाग के अन्त में दे दिए हैं। इस तरह लगातार पाँच वर्ष के सतत और कठिन परिश्रम के बाद प्रस्तुत भाग को संभव-सामग्री-संपन्न बनाने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण और उसकी विशेषताएँ-इस संस्करण में सुद्रिष्ट मूलग्रन्थ और उसकी व्याख्या साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से जितनी महत्त्वपूर्ण है उसका संपादन भी उतनी ही तत्परता और संलग्नता से किया गया है और आज कल की सुविधित सम्पादन प्रणालियों पर दृष्टि रखते हुए संस्करण को अधिक से अधिक उपादेय और उपयोगी बनाने की चेष्टा में अपनी दृष्टि से कोई कमी नहीं की गई है। दिगम्बर साहित्य के अद्यावधि प्रकाशित ग्रन्थों की पिछड़ी हुई दशा को देखकर तथा दूसरे दूसरे अच्छे अच्छे संस्करणों की अप्रगामिता को ध्यान में रखते हुए हमने इस बात का यह लघुप्रयत्न किया है कि प्रकाशन तथा सम्पादनक्षेत्र में कुछ

प्रगति हो तथा उसको समग्रता का मापदण्ड कुछ ऊँचा हो। तथा प्रचलित अध्ययन क्रम में परिवर्तन होकर कुछ विशाल दृष्टि उत्पन्न हो। इसकी सफलता की जांच तो पाठक ही कर सकेंगे। इस संस्करण की विशेषताएँ संक्षेप में निम्न प्रकार हैं।

पाठान्तर—इसके सम्पादन में अति प्राचीन प्रतियों का उपयोग किया गया है और मौलिक पाठान्तर नीचे टिप्पण में दे दिये गये हैं। पाठान्तर देते समय हमारे सामने प्रधानतया दो दृष्टियाँ रहीं हैं—एक अर्थ विषयक और दूसरी लिपिविषयक। अर्थ को दृष्टि से जो पाठ विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए उन्हें मूल में दिया है और शेष को टिप्पण में। लिपि-विषयक पाठान्तर पाठकों को यह बतलाने के लिये दिये हैं कि किस तरह लिपिसाम्य से लेखकगण कुछ का कुछ समझ लेते हैं और उनकी यह भूल अर्थ का अनर्थ तो करती ही है; किन्तु पाठान्तरों की भी सृष्टि कर डालती है। उदाहरण के लिये, ‘तद्धि स्वकारण’ का लिपि-दोष से ‘तद्धिश्च-कारण’ समझ लिया गया। पाठान्तर को ठीक २ समझने के लिये जिस शैली का अनुसरण किया है उसे जान लेना भी आवश्यक है। पाठान्तर जिस वर्ण से प्रारम्भ होता है ऊपर उस वर्ण पर ही अंक दिया है। यदि पाठान्तर किसी शब्द का अंश है और उसके प्रारम्भ के, अंत के या दोनों ओर के कुछ वर्ण छोड़ दिये गये हैं, तो उनको बतलाने के लिये नीचे टिप्पण में पाठांतर के आगे, पीछे या दोनों ओर डैश लगा दिये गये हैं। यथा ‘तद्धिस्वकारण’ का पाठांतर ‘तद्धिश्चकारण’ है तो ‘तद्धि’ के ‘त’ के ऊपर अंक देकर, नीचे टिप्पण में ‘तद्धिश्चका-’ इस रूप में पाठान्तर दिया है। ‘का’ के आगे का डैश बतलाता है कि कुछ वर्ण छोड़ दिये गये हैं जो मूल पाठ के ही सदृश हैं।

टिप्पणी—इस संस्करण का सबसे अधिक परिश्रम से तैयार किया भाग इसकी टिप्पणी (Foot note) है। इसके लिये जैन बौद्ध और वैदिक दर्शन के उपलब्ध प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थों का यथासंभव उपयोग किया गया है। संस्कृत वाङ्मय के पठन-पाठन में आजकल हम लोगों ने एक दृष्टि को बिस्कुल ही भुला दिया है। दार्शनिक ग्रन्थों में भी न केवल ऐतिहासिक घटनाओं के बीच निक्षिप्त रहते हैं, किन्तु उनका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक युक्ति और प्रत्येक सिद्धान्त अपने उद्गार में अपनी कहानी छिपाये हुए है। यह बात इतनी सत्य है कि विद्वत्समाज उसे स्वीकार किये बिना न रहेगा। प्राचीन साहित्य के किसी भी ग्रंथ का अध्ययन करते समय अध्येता को यह स्मरण रखना चाहिये कि उस ग्रंथ की रचना में तत्कालीन परिस्थिति का बहुत बड़ा हाथ है। और यदि उसके पूर्वकालीन, समकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थों के साथ उसे तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ा जाये तो ऐसे ऐसे रहस्यों का उद्घाटन होता है जिनकी कल्पना कर सकना भी संभव नहीं है। साहित्य चाहे वह दार्शनिक हो या धार्मिक, सामाजिक हो या राजनैतिक, पौराणिक हो या व्याख्यात्मक, अपने समय के द्वन्द्वों का प्रतिबिम्ब होता है। जिस साहित्य में केवल वस्तु विवेचन हो, वह भी इस द्वन्द्व से अछूता नहीं रह सकता तब जिसमें वस्तुविवेचन के साथ साथ उस समय के प्रचलित मत-मतान्तरों की आलोचना की गई हो, वह साहित्य अपने रचनाकाल के प्रभाव से कैसे अछूता रह सकता है? लचीलतया तथा उसकी स्वोपलब्ध विवृति उस समय रचे गये हैं जब भारत की अन्तर्मुखी दार्शनिक परिस्थिति में यूँही की बहिर्मुखी आधुनिक परिस्थिति से भी अधिक उथल-पुथल हो रही थी और भारतवर्ष के दार्शनिक क्षेत्र में धर्मकीर्ति और कुमारिल सरीखे प्रखर तार्किक और समर्थ विद्वान् अपनी

लेखनी और वाक्शक्ति के द्वारा अपने विरोधी को परास्त करके अपनी विजयवैजयन्ती फहराने में संलग्न थे। इसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र की रचना भी ऐसे ही द्वन्द्वकाल में ही हुई है। ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का समय भारत के दार्शनिक क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस समय में परस्पर के संघर्ष से दर्शन शास्त्र का खूब विकास हुआ, प्रबल प्रतिवादियों के आक्रमणों से आत्मरक्षा करने के लिये नये नये सिद्धान्तों का सर्जन और पुरानों का संवर्द्धन हुआ। कई एक नूतन मत आविर्भूत हुए और कई एक पुरातन सिद्धान्त अपने पदचिह्न छोड़कर अस्त हो गए। शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रादुर्भाव और बौद्धधर्म का मध्याह्न तथा उसके पतन का श्री गणेश इसी काल में हुआ। इस संस्करण में मुद्रित ग्रन्थ भी लगभग इसी द्वन्द्व काल की रचनाएँ हैं और उनके निर्माता भट्टकलङ्क और प्रभाचंद्र ने अपने समय के समर्थ तार्किकों के मत की आलोचना उनके ग्रन्थों से अवतरण देकर की है। अतः उनकी आलोचनाओं का रहस्य तथा उत्तरकालीन ग्रन्थकारों पर उनका प्रभाव जानने के लिये यह आवश्यक है कि अध्येता पूर्वकालीन तत्कालीन और उत्तरकालीन दार्शनिक मन्तव्यों से परिचित हो। इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर शब्दसाम्य, अर्थसाम्य और भावसाम्य की दृष्टि से प्रत्येक सिद्धान्त और युक्ति का प्रादुर्भाव और विकास बतलाने के लिये पूर्वकालीन, समकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के मन्तव्यों को टिप्पणी में ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। सङ्कलन करते समय ऐतिहासिक क्रम को रक्षा का भी यथासंभव प्रयत्न किया गया है। इसके सिवा कुछ टिप्पणियाँ ग्रन्थकार के आशय को स्पष्ट करने के लिये तथा कुछ पाठ-शुद्धि के लिये भी दी गई हैं। प्रत्येक विषय के अन्त में उसकी चर्चा के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष सम्बन्धी ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची दी है। जिससे उस विषय के और भी पर्यालोचन के लिए यह सूची निर्देशिका का कार्य देगी।

अवतरणनिर्देश—ग्रन्थ में उद्धृत जिन पद्यों तथा वाक्यों के निर्देशस्थल खोजे जा सके उनके आगे कोष्ठक में उनके मूलस्थल दे दिये गये हैं और इस प्रकार के तथा अन्य उद्धृत पद्यों को जिन जिन ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है टिप्पण में उन ग्रन्थों का भी निर्देश कर दिया है। इससे ग्रन्थकारों का समय निर्णय करने में काफी सहायता मिल सकेगी।

सङ्केतविवरण—टिप्पणी तथा मूलग्रन्थ में अनेक स्थान में सांकेतिक शब्दों का प्रयोग किया है। उस का पूरा विवरण दे दिया है; जिससे उन ग्रन्थों का यथावत् उपयोग हो सके।

विषयानुक्रमणिका—इस में प्रत्येक विषय के पूर्वपक्ष की खास खास युक्तियाँ तथा उत्तर पक्ष के खास खास प्रमाण तथा विचारों का क्रम से विस्तृत संग्रह किया है। जिससे ग्रन्थ के पाठों विद्यार्थियों को विषय याद करने में बहुत सहायता मिलेगी।

परिशिष्ट—इस भाग में 'लघीयस्त्रय' के शब्दों की सूची, लघीयस्त्रय की कारिकाओं की अकारादिक्रम से सूची, विवृति के शब्दों की सूची, न्यायकुमुदचन्द्र के दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्दों की सूची, लक्षणवाक्यों की सूची, उद्धृतपदों की सूची, ग्रन्थ में आगत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों के नामों की सूची, टिप्पणी सूची, ग्रन्थ के सम्पादन में उपयुक्त ग्रन्थों की सूची, भूमिका में आये नामों की सूची, भूमिका लिखने में उपयुक्त ग्रन्थों की सूची, आदि अनेक परिशिष्ट रहेंगे। यह भाग इस संस्करण के द्वितीय भाग के अन्त में रहेगा। ये परिशिष्ट अन्वेषकों के बड़े काम के सिद्ध होंगे। इनके द्वारा ग्रन्थ का कोई भी विषय सरलता से देखा जा सकता है।

भूमिका—इस भाग में ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार अकलङ्क और प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में ज्ञातव्य अनेक ऐतिहासिक तथा दार्शनिक मन्तव्यों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। ग्रन्थ विभाग में ग्रन्थ का तुलनात्मक परिचय तथा विशद विषय परिचय दिया गया है। ग्रन्थकार विभाग में अकलङ्क देव का इतिहास निबद्ध किया है और अकलङ्क के साथ प्रायः मुख्य मुख्य सभी जैन तथा जैनैतर ग्रन्थकारों की तुलना करते हुए बहुत सी बातों का रहस्य उद्घाटित किया है। इस भाग को यदि जैनतर्क युगके इतिहास की रूपरेखा कही जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि अकलङ्क देव को जैन न्याय के प्रस्थापक होने का श्रेयः प्राप्त है। यदि जैनदर्शन के कोषागार से उनके ग्रन्थरत्नों को अलग कर दिया जाये या जैनन्याय रूपी आकाश से इस जाज्वल्यमान नक्षत्र का अस्तित्व मिटा दिया जाए तो वे सूने और निःप्रभ हो जायेंगे। अतः इस महापुरुष की जीवनगाथा और जैनन्याय के विकास की आत्मकथा दोनों परस्पर में सम्बद्ध हैं, एक के जीवन का अनुशीलन दूसरे पर प्रकाश डालने के लिये प्रदीप का काम देता है। अतः इस भाग में प्रकृतग्रन्थों की तुलनात्मक विवेचना के साथ साथ अकलङ्क और प्रभाचन्द्र के समय और ग्रन्थों की विवेचना, अकलङ्क से पहले जैनन्याय की रूपरेखा, जैनन्याय को उनकी देन, आदि सभी आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला गया है। अकलङ्क के समयनिर्णय के प्रकाश में अन्य भी कई जैनैतर ग्रन्थकारों के प्रचलित समय के बारे में भी ऊहापोह किया गया है, इस लिये ऐतिहासिकों के लिये भी यह प्रस्तावना उपयोगी होगी।

छपाई आदि—मूल, विवृति, व्याख्यान, टिप्पण और पाठान्तर के लिये उपयुक्त टाईप का उपयोग किया है। उद्धरणवाक्य इटालिक में दिये गये हैं जिससे उनके पहचानने में भ्रम न हो। पाठान्तर और टिप्पण में भेदसूचन करने के लिये पाठान्तर को मोटे और शेष टिप्पण को पतले टाईप में दिया है। प्रत्येक पत्र पर पंक्ति-संख्या भी दी गई है जिससे अन्वेषकों को अनेक सहूलियतें रहेंगी। प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर प्रवेश, परिच्छेद, कारिका की संख्या और विषय का निर्देश कर दिया है इससे किसी भी विषय को सरलता से खोजा जा सकेगा।

लिखित प्रतियों में विरामचिह्नों का उपयोग मात्र '।' ऐसी खड़ी पाई का होता है। वह भी लेखक एक पत्र या पंक्ति में शोभा के लिए इतनी पाइयाँ लगानी चाहिए ऐसा सोचकर जहां मन में आता है वहां लगा देते हैं। हमने इसमें अल्पविराम, अर्धविराम, विराम, आश्चर्य-सूचक, प्रश्नसूचक आदि चिह्नों का उपयोग किया है। किसी खास बात को या पूर्वपक्ष के शब्दों को ' ' इस तरह सिंगल इनवर्टेड कामा में रखा है। अवतरणों को " " डबल इनवर्टेड कामा में रखा है। प्रकरणों का तथा अवान्तर चर्चाओं का वर्गीकरण करके उन्हें भिन्न भिन्न पैरोग्राफ में रखा है। जहाँ प्रकरण शुरू होता है वहाँ बगल में हेडिंग इटालिक टाईप में दे दिया है। इस तरह पाठकों की सुविधा के लिए प्रायः समुचितप्रणालियों पर ध्यान रखके इसका सुद्गण कराया गया है। ग्रन्थ में जो शब्द सभी प्रतियों में अशुद्ध है तथा हमें उन शब्दों की जगह दूसरा पाठ प्रतीत हुआ उसे () इस ब्रेकिट में दिया है। जिससे ग्रन्थ की मौलिकता सुरक्षित रह सके। विशेष व्यक्तियों के नाम या वादों के नामों के नीचे ----- ऐसी लाइन दे दी है। सँक्षेप में यही इस संस्करण का सिंहावलोकन है।

संशोधन में उपयुक्त प्रतियों का परिचय

(१) 'आ०' संस्कृत, ईडरमंडार की जोर्णशोर्ण कीटदृष्ट प्रति। इस प्रति में कुल ४११ पत्र हैं। अन्तिम दो पत्र एक एक बाजू पर ही लिखे गए हैं। इसके शुरू के ११ पत्र सहस्र लेखक के द्वारा लिखी गई लघीपञ्चय की स्वविवृति की प्रति से बढ़ल गए हैं, अर्थात् विवृति

के ११ पत्र इसमें लग गए तथा इसके ११ पत्र संभवतः विवृति की प्रति में या और कहीं बंध गए होंगे। पर इस विनिमय से हमें विवृति के उद्धार में बहुत सहायता मिली है।

पत्रों की लंबाई चौड़ाई $१०\frac{1}{2} \times ४\frac{3}{4}$ इंच है। एक पृष्ठ में १३ पंक्ति तथा प्रत्येक पंक्ति में ४९-५० अक्षर हैं। इसके प्रारम्भ के १०८ पत्र तथा २१३ और २१४ वें पत्र आधे आधे गल गए हैं। इनको अति सावधानी से ठठाने पर भी प्रतिक्षण इसके परमाणु विशेषण होते जाते हैं। अन्तिमपत्र तो इतने घिस गए हैं कि आईग्लास की मदद लेने पर भी कठिनाता से ही बांधे जा सकते हैं। इसके अन्त में पुष्पिका लेख इस प्रकार है—‘इति न्यायकुमुदचन्द्रवृत्तितर्कः समाप्तः मिति ॥ छ ॥ ग्रंथाम्’ १६००० ॥ १५२० ॥ छ ॥ शुभं भवतुः ॥’ श्री ॥ इसके अन्त में १५२० का अङ्क देने से तथा प्रति की अवस्था देखते हुए कहा जा सकता है कि यह प्रति संभवतः संवत् १५२० में लिखी गई हो। इसके ३०८ से ३१३ तक के पत्र किसी दूसरे लेखक के लिखे मालूम होते हैं। कहीं कहीं छूटा हुआ पाठ हाँसिया में दिया गया है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि प्रति लिखी जाने पर फिर से मिलाई गई है। अक्षर पृष्ठमात्रा वाले सुवाच्य हैं। प्रति शुद्ध है। हाँसियां में कहीं कहीं अर्थबोधक टिप्पणियां भी दी गई हैं। प्रकरण की समाप्ति स्थल में कुछ शब्द गेरूआ रङ्ग से रङ्ग दिए गए हैं। अन्यप्रतियों की अपेक्षा हमें यह प्रति शुद्ध मालूम हुई इस लिए हमने इसे आदर्शप्रति मानकर प्रेस कापी की थी। इसमें आखिरी के १५० पत्रों में शब्दसादृश्य के कारण एक एक दो दो पंक्ति के पाठ छूट गए हैं। मालूम होता है लेखक लिखते लिखते ऊब गया था। मिलान करने वालों ने भी शुरू के पत्रों का मिलान करके प्रति को साधारणतया शुद्ध पाकर मालूम होता आगे का पाठ नहीं मिलाया।

(२) ‘ब०’ संज्ञक, बनारस के श्री स्याद्वाद् जैन महाविद्यालय के अकलंक सरस्वती भवन की प्रति है। यह प्रति आरा के जैनसिद्धान्त-भवन की प्रति पर से की गई है। अत्यन्त अशुद्ध है। इस में शक्ति-निरूपण से करीब २२ पत्र का पाठ बिलकुल छूट गया है। इस २२ पत्र के पाठ की मूल न केवल आरा और बनारस की प्रतियों में हैं; किन्तु खुरजा, व्यावर, इन्दौर, ललितपुर, जयपुर आदि के भंडारों की प्रतियों में भी है। इसका एक ही कारण मालूम होता है कि उत्तर प्रान्त की समस्त प्रतियां किसी ऐसे आदर्श से की गई हैं जिसमें उक्त पाठ न होगा, या लेखक ने सदृश शब्द आने से प्रथमप्रति में छोड़ दिया होगा। इसके अतिरिक्त इस प्रति में १-२ पेज का पाठ भी दो जगह छूटा है। २।४ पंक्तियों के पाठ का छूट जाना तो साधारण सी बात है। पत्र की लंबाई चौड़ाई $१४\frac{3}{4} \times ७\frac{1}{4}$ इंच है। पत्र संख्या २७९, एक पेज में १५ पंक्ति, एक पंक्ति में ५०-५१ अक्षर हैं। चैत्र शुद्ध ३ सं० १९६४ की लिखी हुई है। अक्षर जितने सुवाच्य हैं उतनी ही अशुद्ध लिखी गई है। मार्जिन में विषय का नाम तथा टिप्पणी आदि कुछ नहीं है।

(३) ‘ज०’ संज्ञक, जयपुर के एक भंडार की प्रति है। इसका आदर्श भी कोई उत्तर प्रान्त की प्रति ही मालूम होती है। इसमें भी ब० प्रति की तरह २२ पत्र का पाठ छूटा है। ब० और ज० दोनों प्रतियों का आदर्श प्रायः एक ही मालूम होता है। पत्र संख्या ५८८ है। पत्र की लंबाई चौड़ाई १५×५ इंच है। एक पेज में ७ पंक्ति, एक पंक्ति में ४६-४७ अक्षर हैं।

नकल करने का समय आसोज सुदी १५ सं १९३७ दिया गया है। टिप्पणी कहीं कहीं ही है। ब० प्रति की तरह सदृशशब्द आने पर पेज के पेज पाठ छोड़ दिए गए हैं। एक एक दो दो पंक्तियां तो बीसों जगह छूटी होंगी। प्रति का लेख सुवाच्य है। प्रति अशुद्ध है।

(४) ‘भा०’ संज्ञक, भांडारकर प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर की 5066 of 1937-38 नं० वाली ताड़पत्र की प्रति है। इसके पाठान्तर लेने को मैं स्वयं पूना गया था। कनड़ी वाचक की

सहायता से इसके पाठान्तर संगृहीत किए गए हैं। इसके और व० ज० प्रति के पाठ बहुत कुछ मिलते हैं। पर इसमें वह २२ पत्र वाला पाठ छूटा नहीं है। पत्र संख्या २६०, पत्रों की लंबाई चौड़ाई $20\frac{1}{2} \times 2\frac{1}{2}$ इंच है। प्रत्येक पत्र में ७ से १० लाइन तथा प्रत्येक लाइन में ११५-१२० तक अक्षर हैं। इसकी लिपि तैलगू है। हांसिया में टिप्पणी नहीं हैं; हाँ प्रकरण शुरू होते ही विषय का निर्देश सूक्ष्मरूप में हांसिया में कर दिया है। कुछ पत्र तीन हिस्से करके लिखे गए हैं तथा कुछ पत्र दो हिस्सों में। प्रति अशुद्ध है। थ और द में कोई अन्तर नहीं मालूम होता।

प्रति के अन्त में—‘श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामो-पार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलम् [ल] कलकैने श्रीमत्प्रभाचन्द्रपंडितेन न्यायकुमुदचन्द्रो लघ्वीय-खयालंकारः कृतः इति मंगलम् । श्री शालिवाहनशकवर्ष १७६५ शुभकृत संवत्सर चैत्रशुद्ध पंच-दश यान्ते’ लिखा है। इससे इस प्रति के लिखने का समय चैत्र शुद्ध १५ शक १७६५ स्पष्ट है।

(५) ‘श्र०’ संज्ञक, अरणबेलगोला के भट्टारक श्री चारुकीर्ति पंडिताचार्य जी के भंडार की है। यह प्रति पुरानी कनड़ी लिपि में ताड़पत्र पर लिखी गई है। इसके पाठान्तर भी कनड़ी वाचक की सहायता से लिए गए हैं। इसका आदर्श भी भा० प्रति की ही तरह है। अशुद्ध भी उतनी ही है। पत्र संख्या २२७, पत्रों की लंबाई चौड़ाई $24 \times 1\frac{1}{2}$ इंच है। एक पेज में ८-९ लाइन हैं। प्रत्येक पेज तीन कालम में विभाजित है। पहिले कालम में २९ अक्षर, दूसरे में ४८ तथा तीसरे में ८९ इस तरह १०६-१०७ अक्षर हर एक पंक्ति में है। टिप्पणी कहीं नहीं है। हां, भा० प्रति की तरह प्रकरण शुरू होते ही उसका निर्देश सूक्ष्माक्षरों में मार्जिन में किया है। इस प्रति की एक विशेषता है कि इसके प्रारम्भ में प्रत्येक पत्र की विस्तृत विषय सूची सरल संस्कृत भाषा में लिखी हुई है जो किसी दूसरी प्रति में नहीं देखी गई। इसके अन्त में भी भा० प्रति की तरह ही ‘श्री जयसिंह देवराज्ये’ इत्यादि पुष्पिका लेख है।

स्वविवृति की संकलना तो आ० प्रति के प्रारम्भ में लगे हुए विवृति के ११ त्रुटित पत्रों के आधार से न्यायकुमुद का समप्रवाचन करके की गई है। पर इसकी यथावत् पूर्णता जयपुर से प्राप्त स्वविवृति की प्रति से ही हो सकी है।

आभार प्रदर्शन—यद्यपि इस क्षेत्र में हमारा यह प्रथमप्रयास है, परन्तु विशिष्टसहायकों के कारण हमें विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। श्रद्धेय पं० सुखलाल जी जैसे दर्शन-शास्त्र के अधिकारी, अनुभवी विद्वान् के समयोचित परामर्श से तथा इनके द्वारा संपादित सन्मतितर्क का संस्करण सामने रहने से हमें अपने कार्य की तथा संपादनप्रणाली की रूप-रेखा बनाने में जरा भी अड़चन नहीं हुई। इन्हीं के द्वारा हमें अनेकों ग्रन्थ जिनमें सिद्धिविनिर्दय-टीका, तत्त्वोपप्लवसिंह, हेतुबिन्दुटीका, प्रमाणसंग्रह आदि अलभ्य लिखित ग्रन्थशामिल हैं, प्राप्त हो सके। यद्यपि सन्मतितर्क के हम इस संपादन में ऋणी हैं पर सन्मतितर्क के द्वितीय संस्करण के संपादक इस ऋण को न्यायकुमुदचन्द्र के इस संस्करण से निश्चित रूप से व्याज सहित पा सकेंगे।

संपादन में प्रेसकापी से लेकर प्रस्तावनान्त सभी कार्य हम और हमारे ज्येष्ठसहचर पं० कैलाशचन्द्रजी संयुक्तभाव से करते रहे हैं। हाँ, संपादनांश की जिम्मेवारी हमारे ऊपर तथा प्रस्तावनांश की जिम्मेवारी उनपर रही, अतः सहयोगित्व के नाते उन्हें जो सामग्री संपादनांश में उपयोगी मालूम हुई मुझे बताई, हमें जो सामग्री प्रस्तावना के योग्य प्रतीत हुई, उन्हें बताई। इस तरह पारस्परिक सहयोग से संपादनांश तथा प्रस्तावनांश की पूर्ति एक दूसरे से होती रही। पर जिम्मेवारी आदि कारणों से हमारे ज्येष्ठसहयोगी पं० कैलाशचन्द्रजी की यह प्रबल इच्छा रही कि—‘प्रस्तावना में मात्र उन्हीं का तथा संपादन में मात्र मेरा नाम रहे।’ यद्यपि संपादन में

प्रस्तावना

आज हम अपने पाठकों के सम्मुख जिस ग्रन्थरत्न की प्रस्तावना उपस्थित करते हैं उसका नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। यह ग्रन्थ एक स्वतंत्र रचना न होकर लघीयख्य और उसकी विवृति का विशद व्याख्यान है। यद्यपि आज से कई वर्ष पहले मूलग्रन्थ लघीयख्य अभयचन्द्रसूरि-रचित तात्पर्यवृत्ति के साथ इसी ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित हो चुका था किन्तु उसकी विवृति और व्याख्यान अभी तक अप्रकाशित ही था। न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियाँ तो कुछ ग्रन्थभण्डारों में पाई भी जाती थीं किन्तु स्वोपज्ञविवृति के अस्तित्व का पता तो सबसे पहले पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने ही लगाया था। आज दोनों ग्रन्थरत्न अपने अनुरूप संपादन और मुद्रण के साथ प्रकाशित हो रहे हैं।

अपनी इस प्रस्तावना को हमने दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है और दूसरा ग्रन्थकारों से। ग्रन्थविभाग में, ग्रन्थों के सम्बन्ध में जो कुछ जाना जा सका उसे बतलाने का प्रयत्न किया है और ग्रन्थकार विभाग में ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में आवश्यक सभी बातें निर्दिष्ट करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

१. ग्रन्थपरिचय

लघीयख्य—जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, यह ग्रन्थ छोटे २ तीन प्रकरणों का संग्रह है। प्रकरणों का नाम क्रमशः प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश है। प्रथम प्रवेश में चार परिच्छेद हैं, दूसरे में एक और तीसरे में दो। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल सात परिच्छेद हैं। ग्रन्थ का प्रवेशों और परिच्छेदों में विभाजन स्वयं ग्रन्थकार का ही किया हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि उसकी स्वोपज्ञविवृति की जो प्रतियाँ हमारे देखने में आईं, उनमें भी विषयविभाजन का यही क्रम है, तथा न्यायकुमुदचन्द्र की हस्तलिखित प्रतियों में और मुद्रित तात्पर्यवृत्ति में भी उक्त क्रम ही पाया जाता है, उसमें कोई व्यक्तिक्रम दृष्टिगोचर नहीं होता।

किन्तु यहाँ पर एक शंका उत्पन्न हो सकती है। कहा जा सकता है कि न्यायकुमुदचन्द्र की विभिन्न प्रतियों में विषयविभाजन का एक ही क्रम देखकर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यह विभाजन मूलकार का किया हुआ है क्योंकि विभिन्न प्रतियों में पाठभेद हो सकता है किन्तु विषयविभाजन में तो अन्तर पड़ने का कोई कारण ही नहीं है। तथा अभयचन्द्र ने भी अपनी तात्पर्यवृत्ति न्यायकुमुदचन्द्र को सामने रखकर ही बनाई है, जैसा कि उसके प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम श्लोक में दत्त 'अकलंकप्रभा' शब्द से व्यक्त होता है। अतः उन्होंने भी वही क्रम अपनाया होगा जो प्रभाचन्द्र ने अपनाया था। रह जाती हैं स्वोपज्ञविवृति की प्रतियाँ, किन्तु उनमें भी प्रथम परिच्छेद की सन्धि में 'इति न्यायकुमुदचन्द्र' आदि लिखा है,

१ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १३५। २ अन्तिम प्रवचनप्रवेश का दो परिच्छेदों में विभाजन स्वविवृति की मूल प्रतियों में नहीं पाया जाता।

जिससे ज्ञात होता है कि ये प्रतियों भी न्यायकुमुदचन्द्र के आधार पर ही की गई हैं। अतः उपलब्ध सामग्री के आधार पर तो लघीयस्त्रय का विभाजन मूलकार का किया हुआ प्रतीत नहीं होता। यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि ग्रन्थ का तीन प्रकरणों में विभाजित होना तो ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है। रह जाता है प्रत्येक प्रकरण का अवान्तर परिच्छेदों में विभाजन, सो कारिकाओं की स्वोपज्ञविवृति का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से उसका भी स्पष्टीकरण हो जाता है क्योंकि प्रत्येक परिच्छेद की अन्तिम कारिका की विवृति उपसंहारात्मक प्रतीत होती है। तथा, मूलकार के अन्य ग्रन्थों के देखने से भी विषय के अनुरूप ग्रन्थ का विभाजन करने की प्रवृत्ति उनमें पाई जाती है। स्वोपज्ञविवृति की प्रतियों में जो 'न्यायकुमुदचन्द्रे' या 'श्री-मद्भाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे' लिखा है वह लेखकों की भूल का परिणाम है और उससे इतना ही प्रमाणित होता है कि न्यायकुमुदचन्द्र की रचना के बाद यह प्रतियों की गई हैं। यदि उनका आधार न्यायकुमुदचन्द्र होता तो दोनों की सन्धियों में मौलिक अन्तर न होता। तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में चौथे पांचवें तथा सातवें परिच्छेद के अन्त में दुहरे सन्धिवाक्य पाये जाते हैं, जिनमें से एक परिच्छेद का अन्त सूचक है और दूसरा प्रवेश का। यथा—“इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे पञ्चमः परिच्छेदः।” “एवं प्रका-न्तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चमो नयप्रवेशो द्वितीयः।” इससे भी उक्त बात का समर्थन होता है।

लघीयस्त्रय का अन्तःपरीक्षण करने से एक शंका पुनः हृदय में उठ खड़ी होती है। हम लिख आये हैं कि यह ग्रन्थ छोटे छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह है। आस्तिकों के नियमानुसार इसके आरम्भ में तो मङ्गलगान किया ही गया है किन्तु मध्य में, तीसरे प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में भी मङ्गलगान किया है। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता इसे मध्य मङ्गल बतलाते हैं क्योंकि शास्त्र-कार ग्रन्थ के आदि मध्य और अन्त में मङ्गल का विधान करते हैं। किन्तु अकलंक के किसी अन्य ग्रन्थ में हम मध्य मङ्गल नहीं पाते। इसके सिवाय, उनके न्यायविनिश्चय नामक ग्रन्थ में—जिसके तीन प्रस्ताव बृहत्त्रय कहे जाने के योग्य हैं—प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में स्मधरा और शार्दूलविक्रीडित छन्द पाये जाते हैं, जो परिच्छेद या प्रकरण की समाप्ति का सूचन करते हैं। लघीयस्त्रय में इस तरह के पद्य नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश के अन्त में पाये जाते हैं। तथा तीसरे प्रवेश के आदिश्लोक में मङ्गलगान के साथ ही साथ प्रमाण नय और निक्षेप का कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और प्रमाण और नय का वर्णन करते हुए प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश में प्रतिपादित कुछ बातों की पुनरुक्ति भी की गई है। तथा स्वविवृति की प्रतियों में द्वितीयप्रवेश के अन्त में समाप्तिसूचक 'कृतिरियं भट्टाकलङ्कस्य' आदि लिखा हुआ है। इस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ, तीन नहीं, अपि तु दो प्रकरणों का एक संग्रह है। यदि नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश की तरह, प्रमाणप्रवेश के अन्त में भी समाप्तिसूचक पद्य होता तो तीनों प्रवेशों के स्वतंत्र प्रकरण होने में सन्देह को स्थान न रहता।

यह आशंका साधार है और हृदय को लगती भी है किन्तु ग्रन्थ का नाम लघीयस्त्रय होते हुए भी एक ही ग्रन्थ के रूप में हमें उसकी समीक्षा करनी चाहिए, न कि तीन स्वतंत्र

१ परपरिकल्पितद्रव्यखण्डनमनेकान्तनयेन द्रव्यस्थापनं नाम द्वितीयपरिच्छेदः। परपरिकल्पितासुमानादि-खण्डने स्वमतप्रणीतप्रमाणद्वयव्यवस्थापने तृतीयपरिच्छेदः। ज० विवृति।

प्रकरणों के एक संग्रह के रूप में, और उस दृष्टि से उसके त्रयत्व में विशेष बाधा उपस्थित नहीं होती। अकलंकदेव के अन्य प्रकरणों के देखने से ज्ञात होता है कि वे ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलगान करने के बाद कण्टकशुद्धि आदि के उद्देश्य से एक पद देते हैं। इस ग्रन्थ में भी ऐसा ही क्रम पाया जाता है, मंगलगान के पश्चात् 'सन्तानेषु निरन्वयक्षणिक' आदि पद्य के द्वारा इसमें भी कण्टकशुद्धि की गई है। प्रमाण और नयप्रवेश की कुछ बातें यद्यपि प्रवचन-प्रवेश में दुहराई गई हैं तथापि उनमें दृष्टिभेद है और उसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा। रह जाती है प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में मङ्गलगान की बात, सो न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता ने मध्य-मङ्गल बतलाकर उसका समाधान कर ही दिया है। क्योंकि ग्रन्थ का नाम उसके तीन प्रवेश और प्रवेशों के अवान्तर परिच्छेदों के रहते हुए कोई भी विचारक उसे मध्य मङ्गल के सिवाय अन्य बतला ही क्या सकता था। फिर भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के पञ्चम-परिच्छेदान्तभाग को पृथक् बनाया गया है और प्रवचनप्रवेश को पृथक्, और बाद में दोनों को सङ्कलित करके लघीयस्त्रय नाम दे दिया गया है। प्रारम्भ के चार परिच्छेदों में प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल का वर्णन होने के कारण उन्हें प्रमाणप्रवेश नाम दिया गया, पाँचवें परिच्छेद में केवल नयों का वर्णन होने के कारण उसे नयप्रवेश संज्ञा दी गई और छठवें तथा सातवें परिच्छेद में प्रमाण नय और निक्षेप का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करके भी श्रुत और उसके भेद प्रमेदों का प्रधानतया वर्णन होने के कारण उन्हें प्रवचनप्रवेश नाम से व्यवहृत किया।

अकलंक के प्रकरणों पर बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति का बड़ा प्रभाव है। धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणविनिश्चय और न्यायविन्दु में तीन तीन ही परिच्छेद रखे हैं। अकलंकदेवने अपने न्यायविनिश्चय में भी तीन ही परिच्छेद रखे हैं, अतः संभव है कि इसी का अनुसरण करके लघीयस्त्रय नाम की और उसके तीन प्रवेशों की कल्पना की गई हो। अस्तु,

पहले परिच्छेद में साढ़े छ कारिकाएँ हैं, दूसरे में तीन, तीसरे में साढ़े ग्यारह, चतुर्थ में आठ, पाँचवें में इक्कीस, छठवें में बाईस और सातवें में छ। मुद्रित लघीयस्त्रय के पाँचवे परिच्छेद में केवल बीस कारिकाएँ हैं किन्तु स्वोपज्ञविधृति तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में 'लक्षणं क्षणिकैकान्ते' आदि कारिका अधिक पाई जाती है। विधृति तथा न्यायकुमुदचन्द्र की प्रतियों में कारिकाओं पर क्रमसंख्या नहीं दी गई है किन्तु मुद्रित लघीयस्त्रय में क्रमसंख्या दी है। पता नहीं, यह क्रमसंख्या हस्तलिखित प्रति के आधार पर दी गई है या संपादक ने अपनी ओर से देदी है।

विधृति की प्रतियों में प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में निम्न पद्य अधिक पाया जाता है—

मोहेनैव परोपि कर्मभिरिह प्रेत्यामिवन्धः पुनः ,

भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रश्नष्टदृष्टिर्जनः ।

कस्माच्चित्रतपोभिरुद्यतमनाश्चैत्यादिकं वन्दते ,

किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे भूर्नेर्जडा वञ्चिताः ॥ १ ॥

रचनाशैली आदि से तो यह पद्य अकलंकदेव का ही जान पड़ता है किन्तु न्यायकुमुदचन्द्र को किसी भी प्रति में इसका सङ्केत तक भी नहीं है। अकलंक के किसी अन्य ग्रन्थ में भी यह नहीं पाया जाता। पता नहीं, विधृति की प्रतियों में यह कहाँ से आकर घुस गया है?

विवृति—यह विवृति लघोयस्त्रयकार की ही कृति है जैसा कि हम आगे प्रमाणित करेंगे। प्रथम परिच्छेद के प्रारम्भ के दो श्लोकों पर, पञ्चम परिच्छेद के अन्तिम दो पद्यों पर, षष्ठ परिच्छेद के आदि श्लोक पर तथा सातवें परिच्छेद के अन्तिम दो पद्यों पर विवृति नहीं है, शेष पर है।

न्यायकुमुदचन्द्र—उक्त दोनों ग्रन्थों के व्याख्यान का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। सन्धियों में इसे लघोयस्त्रयालङ्कार विशेषण से अभिहित किया है। विवृति की किसी २ प्रति की सन्धियों में “भट्टकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे” लिखा है और पुष्पदन्तकृत आदिपुराण के टिप्पण में भी किसी टिप्पणकार ने अकलंक को न्यायकुमुदचन्द्रोदय का कर्ता लिखा है। किन्तु यह केवल भ्रान्ति है जो लेखकों की कृपा का फल है अतः मूल ग्रन्थ का नाम लघोयस्त्रय और व्याख्यानग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र ही जानना चाहिए। प्रारम्भ के दो परिच्छेदों पर खूब विस्तृत व्याख्यान किया है और अन्य दर्शनों में अभिमत प्रमाण और प्रमेय की चर्चा का मण्डनपूर्वक खण्डन करने के कारण इन दो परिच्छेदों की व्याख्या का परिमाण शेष पाँच परिच्छेदों की व्याख्या के लगभग बराबर बैठ जाता है। इसी से इस खण्ड में केवल दो ही परिच्छेद दिये गये हैं। अवशिष्ट पाँच परिच्छेद दूसरे खण्ड में रहेंगे। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता ने प्रत्येक परिच्छेद के व्याख्यान के अन्त में समाप्तिस्त्रोक पद्य दिये हैं और ग्रन्थ के अन्त में अपनी प्रशस्ति भी दी है। मूलग्रन्थ से व्याख्यान का परिमाण लगभग पन्नाहगुना है।

२. ग्रन्थों पर समालोचनात्मक विचार लघोयस्त्रय सविवृति

प्रकरणग्रन्थ—ग्रन्थपरिचय में हम लिख आये हैं कि लघोयस्त्रय एक प्रकरण है। जो शास्त्र के एकदेश से सम्बन्ध रखता हो, तथा जिसमें, शास्त्र में अप्रतिपादित विषयों पर भी प्रकाश डाला गया हो उसे प्रकरण कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार लघोयस्त्रय शास्त्र अर्थात् मोक्षशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के एक देश से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में मुख्यतया जीवादि तत्त्वों का निरूपण है किन्तु प्रथम अध्याय में प्रमाण, नय और निक्षेप की भी चर्चा की गई है। परन्तु लघोयस्त्रय में प्रमाण, नय और निक्षेप की ही विस्तृत चर्चा की गई है, तथा कुछ ऐसे विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है, जो तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित नहीं हैं, अतः वह प्रकरण कहा जाता है। यद्यपि गौतम ने न्यायसूत्र की रचना करके वस्तुपरीक्षा में उपयोगी प्रमाण, वाद आदि साधनों पर क्रमबद्ध ग्रन्थ रचने की प्रणाली को प्रचलित किया और उसके बाद नागार्जुन, आर्यदेव, मैत्रेय, वसुबन्धु आदि बौद्धनैयायिकों ने उन पर अनेक ग्रन्थ रचे, किन्तु इस ढंग के सुसम्बद्ध प्रकरणग्रन्थ रचने का सर्वप्रथम श्रेय बौद्धदर्शन में आचार्य दिङ्नाग को और जैनदर्शन में आचार्य सिद्धसेन को ही प्राप्त है। यद्यपि सिद्धसेन से पहले आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में दार्शनिक शैली का अवलम्बन लिया और सूत्रकार उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण और नय की चर्चा की, किन्तु आचार्य

सिद्धसेन ने प्रमाण और नय का निरूपण करने के लिये ही न्यायावतार नाम का स्वतंत्र प्रकरण रचा। जैनवाङ्मय में न्याय का अवतार करनेवाले श्री सिद्धसेन ही हैं।

दिङ्नाग को बौद्धदर्शन का पिता कहा जाता है। उनका प्रमाणसमुच्चय मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्र का एक प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। दिङ्नाग के ग्रन्थों का अवलम्बन लेकर ही धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक प्रमाणविनिश्चय आदि ग्रन्थरत्नों की रचना की थी। सिद्धसेन, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के प्रमाणविषयक प्रकरणों ने लघीयस्त्रय की रचना में योगदान किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। मध्यकालीन भारतीयन्याय के निर्माता जैन और बौद्ध ग्रन्थकारों के प्रमाणविषयक इन प्रकरणों के सम्बन्ध में डा० विद्याभूषण ने लिखा है—

“The prakaranas (Manuals) are in fact remarkable for their accuracy and lucidity as well as for their direct handling of various topics in their serial orders. Definitions of terms are broad and accurate and not full of niceties.” Indian logic, P. 356.

अर्थात्—ये प्रकरण अपनी सुगमता और यथार्थता के लिये उल्लेखनीय हैं। साथ ही साथ विभिन्न विषयों पर क्रमबद्धरूप में ये साक्षात् प्रकाश डालते हैं। इनमें दत्त परिभाषाएँ स्पष्ट और यथार्थ होती हैं।

रचनाशैली—ग्रन्थकार ने अपने सभी प्रकरणों में प्रायः एक ही शैली का अनुसरण किया है। प्रारम्भ में वे मंगलाचरण करते हैं, उसके बाद एक पद्य के द्वारा कण्टकशुद्धि आदि करके प्रकृत विषय का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं। प्रकृत ग्रन्थ, न्यायविनिश्चय तथा सिद्धिविनिश्चय में यही क्रम अपनाया गया है। वे अपने प्रकरणों को केवल कारिकाओं में ही रचकर समाप्त नहीं करते, किन्तु उन पर वृत्ति भी रचते हैं। अब तक उनका एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं मिला, जिसपर उन्होंने वृत्ति न रची हो। वृत्ति रचने का उनका उद्देश्य केवल कारिकाओं का व्याख्यान करना ही नहीं होता किन्तु उसके द्वारा वे कारिका में प्रतिपादित विषय से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विषयों का विवेचन और आलोचन भी करते हैं। किसी किसी कारिका की वृत्ति तो कारिका के आशय पर प्रकाश न डालकर नूतन बात का ही चित्रण करती है। अकलंकदेव की अन्य रचनाओं की अपेक्षा लघीयस्त्रय और उसकी विवृति कुछ सुगम प्रतीति होती है, न तो न्यायविनिश्चय की कारिकाओं के जितनी उसकी कारिकाएँ ही दुर्लभ हैं और न अष्टशती के जितनी वृत्ति ही गहन है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसमें अकलंकदेव की प्रखर तर्कणा और गहन रचना की छाप नहीं है। वास्तव में अकलंकदेव के वाक्य अतिगम्भीर अर्थबहुल सूत्र जैसे होते हैं और उनका पूर्वापरसम्बन्ध जोड़ने के लिये स्याद्वाद-विद्यापति विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जैसे प्रतिभासंपन्न विद्वानों की आवश्यकता होती है। लघीयस्त्रय और उसकी विवृति को बाँचने से विद्वान् उनकी गहनता का अनुमान कर सकेंगे। लघीयस्त्रय की कारिकाएँ, उनकी विवृति, परिच्छेद, प्रमाणविषयक चर्चा और रचनाशैली दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय और उसकी स्वोपज्ञविवृति का स्मरण कराती हैं। तथा, उसके तीन प्रकरणों का प्रवेश नाम दिङ्नाग के न्यायप्रवेश का ऋणी प्रतीत होता है।

१ “प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। तत्र नानुपलब्धे न निर्णयिष्ये न्यायः प्रवर्तते, किन्तुर्हि ? संशयिते।”
न्यायभाष्य १।१।१।

लघो० और विवृति में आगत विशेष स्थल, नाम आदि—लघीयस्त्रय की तीसरी कारिका के अन्त में 'प्रमाण इति संग्रह' पद आता है। ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ प्रमाणसंग्रह और न्यायविनिश्चय में भी यह पद आता है। यह पद सूत्रकार उमास्वाति के 'तत्प्रमाणे' (१।१०) सूत्र की ओर सङ्केत करता है। उमास्वाति ने ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष विभाग करके उन्हें प्रमाण कहा है। उन्हीं का अनुसरण करते हुए अकलंकदेव भी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों का 'प्रमाणे' पद में संग्रह करते हैं। तीसरी कारिका की विवृति में अकलंकदेव ने 'अपर' शब्द से किसी वादी के मत का उल्लेख किया है, व्याख्याकार प्रभाचन्द्र उसे दिङ्नाग का मत बतलाते हैं। चतुर्थ कारिका की विवृति में 'जैमिनि' का नाम आया है। बीसवीं कारिका की विवृति में 'प्रामाणिक' शब्द आता है, प्रभाचन्द्र उसे किसी प्राम का नाम बताते हैं।

इनके सिवा विवृति में कुछ ऐसे अंश भी पाये जाते हैं, जो ग्रन्थान्तरों से लिये गये हैं। उनमें से कुछ अंश तो ऐसे हैं जो उद्धरणवाक्यों के तौर पर लिये गये हैं। किन्तु कुछ अंश विवृति के ही अङ्ग बन गये हैं और इस प्रकार विवृतिकार के ही रचित प्रतीत होते हैं। दूसरों के वचनों को इस प्रकार मूल में सम्मिलित कर लेने की परिपाटी बहुत प्राचीन है। गौतम के न्यायसूत्र, वात्स्यायन के भाष्य, तथा कुमारिल के श्लोकार्थवार्तिक में इस प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह, हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, और विद्यानन्द के तत्त्वार्थ-श्लोकार्थवार्तिक में तो इतर ग्रन्थकारों की ऐसी अनेकों कारिकाएँ हैं जो प्रमाणरूप में या पूर्वपक्ष के रूप में मूल में सम्मिलित कर ली गई हैं।

आठवीं कारिका की विवृति में "अर्थक्रियासमर्थ परमार्थसत् इत्यङ्गीकृत्य" ऐसा लेख है, यह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की कारिका का ही अंश है। तेईसवीं कारिका की विवृति "सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं" इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ होती है। यह वाक्य भी प्रमाणवार्तिक की कारिका (३-१२४) का अविकल रूप है। २८ वीं कारिका की विवृति में आये 'वचुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयन्ति नार्थम्' इस मत को प्रभाचन्द्र धर्मकीर्ति का मत बतलाते हैं। ४१ वीं कारिका की विवृति में निम्नलिखित कारिका उद्धृत है—

१ प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम् । परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाण इति संग्रहः ॥ २ ॥ २ प्रत्यक्षमज्ज्ञा स्पष्टमन्यच्छ्रुतमविप्लवम् । प्रकीर्णं प्रत्यभिज्ञादौ प्रमाण इति संग्रहः ॥ ३-८३ ॥ ३ न हि तत्त्वज्ञानमित्येव यथायथनिर्णयसाधनम् । इत्यपरः ।

४ "There are in it passages which were quoted almost verbatim from the Lankavataṛa sūtra, Madhyamik sūtra and other Buddhist works which were composed about the third or fourth century A. D." "न सन् नासन्न सदसत् सतो वैधर्म्यात् ।" न्या० सू० ४।१।४८. "न सन् नासन्न सदसन् धर्मो निर्वर्तते यदा ।" मा० सू० परि० ७ । "मायागन्धर्वनगरयुगलुष्णिगावद् वा" न्या० सू० ४।२।३२ । "यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा" । मा० सू०, परि० ७. Indian logic (S. C. Vidyabhushan) ५ "दश दाडिमणि, षड्रूपाः, कुण्डमजाजिनम्, पल्लविण्डः ।" ५।२।१०। यह पातञ्जलमहाभाष्य १।१।३ का वाक्य है । ६ "पाराशर्यं चक्षुरादीनां संघाताच्छयनादिवत् ॥ १०५ ॥" अनु० परी० । यह दिङ्नाग के न्यायप्रवेश के "पराशर्यचक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवत् ।" का ही रूप है । ७ "अर्थक्रियासमर्थ यत्तदत्र परमार्थसत् ।"

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमुच्छति ।

यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव सतुच्छकम् ॥

भामतीकौर वाचस्पति मिश्र इसे वार्षगण्य की बतलाते हैं। योगसूत्र की भास्वती आदि टीकाओं में भी इसे 'षष्ठितंत्र' नामक ग्रन्थ की बतलाया है। ५४ वीं कारिका की विवृति में आगत 'तिमिराशुभ्रमणनीयानसंक्षोभादि' धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु (१-६) का ही अंश है। कारिका ६६-६७ की विवृति के अन्त में "ततः तीर्थङ्करवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारव्याकारिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ" आदि वाक्य आता है। यह आचार्य सिद्धसेन के सम्मतितर्क की तृतीय गार्था की संस्कृत छाया है।

इस प्रकार विवृति में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, वार्षगण्य और सिद्धसेन के ग्रन्थों से वाक्य या वाक्यांश लिये गये हैं।

न्यायकुमुदचन्द्र

नाम—लघीयख्य तथा उसकी विवृति के व्याख्यानग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है, जैसा कि उसके सन्धिवाक्यों में निर्देश किया गया है। किन्तु डा० विद्याभूषण, पाठक तथा प्रेमीजी आदि अन्वेषकों ने 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय' नाम से उसका उल्लेख किया है। कुछ शिलालेखों में भी न्यायकुमुदचन्द्रोदय ही नाम लिखा है। पुष्पदन्त के महापुराण का जो प्रथम भाग इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है, उसकी टिप्पणी में भी अकलंक का परिचय देते हुए उन्हें न्यायकुमुदचन्द्रोदय का कर्ता लिखा है। इससे पता चलता है कि इस नाम की परम्परा बहुत प्राचीन है। किन्तु न्यायकुमुदचन्द्र की श्र० प्रति के अन्तिम वाक्य को छोड़कर अन्यत्र किसी भी प्रति में उदयान्त नाम नहीं मिलता। संभवतः इसी कारण से पं० जुगल-किशोरजी मुख्तार ने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना में उदयान्त नाम देकर भी 'अनेकान्त' में प्रकाशित अपने एक लेख में न्यायकुमुदचन्द्र नाम ही लिखा है।

चन्द्र के स्थान में चन्द्रोदय नाम प्रचलित होने का कारण संभवतः आदिपुराण का वह श्लोक है, जिसमें चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र कवि की स्तुति की गई है। किन्तु चन्द्रोदय और उसके कर्ता प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र नहीं हैं, इसका निर्णय हम समय-विचार में करेंगे। अतः उसके आधार पर ग्रन्थ का नाम चन्द्रोदय प्रमाणित नहीं होता। तथा प्रभाचन्द्र के दूसरे ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड से भी 'न्यायकुमुदचन्द्र' नाम की ही पुष्टि होती है। क्योंकि वह प्रमेयरूपी कमलों का विकास करने के लिये मार्तण्ड है तो यह न्यायरूपी कुमुद का विकास करने के लिये चन्द्रमा है। जब मार्तण्ड के साथ ही उदय पद नहीं है तो चन्द्र के ही साथ कैसे हो सकता है? अतः प्रकृत टीकाग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र ही होना चाहिए।

१ "अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयितुमाह स्म भगवान् वार्षगण्यः—गुणानाम्..." इत्यादि। २ "तित्त्व-रवयणसंग्रहविसेसपत्थारमूलवाग्वरणा"। ३ हिस्ट्री आफ दी मिडीवल स्कूल ऑफ इन्डियन लॉजिक, पृ० ३३। ४ 'अकलंक का समय' शीर्षक आदि लेख। ५ जैनहितैषी, भाग ११, पृ० ४२९। ६ "सुखि" न्यायकुमुद-चन्द्रोदयकृते नमः। ७ शिमोगा जिले के नगर ताल्लुके का शि० ले० न० ४६। ७ पृ० ५८। ८ पृ० १३०। ९ चन्द्रांशुश्रुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकवि स्तुते। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाढादितं जगत् ॥

रचनाशैली—न्यायकुमुदचन्द्र की भाषा ललित और उसका प्रवाह निर्बाध है। उसका आशय न समझ सकनेवाला व्यक्ति भी उसकी धाराप्रवाह गद्य को पढ़ने में आनन्द का अनुभव कर सकता है। क्या भाषासौष्ठव और क्या दार्शनिकशैली, दोनों ही दृष्टि से प्रभाचन्द्र ने अपने पूर्वज और अकलंकसाहित्य के व्याख्याकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। किन्तु तुलना करने पर विद्यानन्द की शैली की अपेक्षा अनन्तवीर्य की शैली को छाप हम उनपर अधिक पाते हैं। विद्यानन्द की लेखनी अधिक प्रौढ़ है, अष्टशती की व्याख्या अष्टसहस्री का परिशीलन करने में विद्वानों की भी कष्टसहस्री का अनुभवन करना पड़ता है। विद्यानन्द ने अष्टशती की व्याख्या उस रीति से नहीं की, जिस रीति से साधारणतया व्याख्या की जाती है। उन्होंने पदों के समास तोड़कर उनके पर्यायवाची शब्दों के द्वारा अष्टशती का व्याख्यान नहीं किया, किन्तु उसके साक्षात् पदों के आदि, मध्य तथा अन्त में आवश्यकतानुसार उन वाक्य, वाक्यांश, शब्द तथा विस्तृत चर्चाओं को स्थान दिया, जिनकी उपस्थिति, उनके गूढ़ रहस्य को अभिव्यक्त कर सकती थी। किन्तु प्रभाचन्द्र की भाषा में न तो उस श्रेणी की प्रौढ़ता ही है और न उन्होंने व्याख्या की उस दुरूह और कष्टसाध्य पद्धति को ही अपनाया है। वे अनन्तवीर्य की तरह कारिका का व्याख्यान करके विवृति का व्याख्यानमात्र कर देते हैं। किन्तु इस शैली में भी उनकी अपनी एक विशेषता है। वे कारिका का रहस्योद्घाटन करने के बाद ही विवृति का व्याख्यान नहीं कर डालते किन्तु कारिका और विवृति में प्रतिपादित मन्तव्यों को लेकर विपक्षियों के मन्तव्य की आलोचना करते हैं। किसी विषय की आलोचना करने से पहले वे उस विषय के समर्थक साहित्य के आधार पर उसका प्रामाणिक पूर्वपक्ष देते हैं, फिर उसकी एक एक युक्ति को लेकर विकल्पों के कोटिक्रम से उसकी धजियाँ उड़ा देते हैं। व्याख्याकार का पाण्डित्य उनके इन पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में निबद्ध निबन्धों में ही झलकता है। प्रतिवादी को विकल्पजाल में फँसकर जब वे उसका निरसन करते हैं तो उनकी तर्कणाशक्ति की प्रशंसा करते ही बनती है। यथार्थ में प्रभाचन्द्र टीकाकार की दृष्टि से उतने सफल नहीं हुए हैं जितने विभिन्न शास्त्रीय चर्चाओं की आलोचना और प्रत्यालोचना में सफल हुए हैं। व्याख्याकार की दृष्टि से तो अकलंक के अन्य व्याख्याकारों की अपेक्षा उनका दर्जा सबसे लघु है। न्यायकुमुदचन्द्र के अन्त में जब वे अपनी लघुता का प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं—

बोधो मे न तथाविधोऽस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वरः ।

साहाय्यञ्च न कस्याचिद्वचनतोऽप्यस्ति प्रबन्धोदये ॥

अर्थात् “न तो मुझे वैसा ज्ञान ही है और न सरस्वती ने ही कोई वरदान दिया है। तथा प्रकृत ग्रन्थ के निर्माण में किसी से वाचनिक सहायता तक भी नहीं मिल सकी है।” तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपनी असामर्थ्य का अनुभव करते हैं। क्योंकि अपने दूसरे ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्त में उन्होंने इस प्रकार की लघुता प्रकट नहीं की है।

आचार्य प्रभाचन्द्र में अत्यन्त पूज्य बुद्धि रखते हुए अपने मत के समर्थन में हम उनके एक भ्रम का उल्लेख करने के लिये श्रद्धालु पाठकों से क्षमा चाहते हैं। लघीयस्त्रय के तीसरे परिच्छेद की आरम्भिक कारिका निम्नप्रकार है—

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम् ।

प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥

इसका सीधा अर्थ है कि—“मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोधन, नामयोजना से पहले आद्य अर्थात् सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और शब्दयोजना होने पर श्रुत अत एव परोक्ष हैं।” आचार्य विद्योतनंद और अभयदेवसुरि ने इसका यही अर्थ किया है। किन्तु प्रभाचन्द्र ने कारिका की वृत्ति को दृष्टि में रखकर ‘आद्य’ शब्द का अर्थ ‘कारण’ किया है। विवृति में लिखा है कि धारणा स्मृति का कारण है, स्मृति संज्ञा का, संज्ञा चिन्ता का, आदि आदि। इसी को दृष्टि में रखकर प्रभाचन्द्र उक्त कारिका का अर्थ करते हुए लिखते हैं—“शब्दयोजना से जो अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे श्रुत कहते हैं। तथा शब्दयोजना से पहले शब्दोन्मुख ज्ञान को भी श्रुत कहते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञान श्रुत हैं और उनका कारण मतिज्ञान है।” प्रभाचन्द्रजी के इस भ्रम का एक कारण तो विवृति ही जान पड़ती है। दूसरा कारण, कारिका से स्पष्टतया स्वतः प्रकट होनेवाले अर्थ का आगम और परस्परा के विरुद्ध होना हो सकता है, क्योंकि स्मृति आदि ज्ञानों को किसी ने भी प्रत्यक्ष नहीं माना है। किन्तु अकलंकदेव ने ६१ वीं कारिका की विवृति में स्मृति आदि ज्ञानों को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष के भेद बतलाया है और वही बात इस कारिका में भी कही गई है। अतः यथार्थ में प्रभाचन्द्र दार्शनिक होने की अपेक्षा तार्किक अधिक प्रतीत होते हैं। प्रमेयकमल-मार्तण्ड में, जो कि उनके आरम्भिक काल की रचना है, उनकी तर्कशैली खूब विकसित हुई है।

जैनेतर ग्रन्थों में से जिन ग्रन्थों का न्यायकुमुदचन्द्र की शैली पर विशेष प्रभाव पड़ा है, वे हैं तत्त्वसंग्रह की कमलशीलकृत पञ्जिका और जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी। क्या भाषासौष्टव और क्या प्रतिपादनशैली, दोनों ही दृष्टि से प्रभाचन्द्र कमलशील और जयन्तभट्ट के ऋणी प्रतीत होते हैं। किन्तु उन्होंने इस साहित्यिक ऋण को जिस विद्वत्ता और वाक्पटुता से व्याजसहित चुकाया है उसकी सराहना करते ही बनता है। नीचे प्रत्येक दर्शन के तत्त्व प्रन्थकारों के साथ प्रभाचन्द्र की तुलना क्रमशः की जाती है—

न्यायदर्शन—न्यायदर्शन के न्यायसूत्र, भाष्य, वार्तिक और तात्पर्यटीका का उपयोग प्रभाचन्द्र ने पूर्वपक्ष के स्थापन में किया है। न्यायभाष्य के उद्देश, लक्षणनिर्देश, और परीक्षा के क्रमानुसार अपने ग्रन्थप्रणयन में भी उन्होंने इसी क्रम को स्थान दिया है। तथा चतुर्थ भेद विभाग का अन्तर्भाव—न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त के ही शब्दों में—उद्देश में किया है। इस प्रकार षोडश पदार्थ के निरूपण में न्यायसूत्र का प्रमाण रूप से उल्लेख करने पर भी उनका निरूपण भाष्य और मञ्जरी के ही शब्दों में किया है। कहीं कहीं प्रभाचन्द्र ने मञ्जरी के शब्दों को भी ‘तथा-चाह न्यायभाष्यकारः’ करके उद्धृत किया है। यद्यपि तात्पर्यटीका का भी अस्पष्ट आश्रय लिया

१ “अत्र अकलङ्कदेवाः प्राहुः—‘ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम् । प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।’” इति । तत्रैवं विचार्यते मतिज्ञानादाद्यादभिनिबोधिकपर्यन्ताच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनादेव इत्यवधारणम् श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ।” त० श्लो० पृ० २३१ । २ “अत्र च यच्छब्द-संयोजनात्प्राक् स्मृत्यादिक्रमविसम्बादिव्यवहारनिवर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभावः ।” सन्मति० टी० पृ० ५५३ ।

गया है तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भाष्यवार्तिक और मञ्जरी ग्रन्थकार के सामने अवश्य थीं और ग्रन्थकार को उनका अच्छा अभ्यास था।

प्रभाचन्द्र और मञ्जरीकार जयन्त—प्रभाचन्द्र को जयन्त की मञ्जरी विशेष प्रिय जान पड़ती है। न्यायदर्शन के षोडशपदार्थ निरूपण में उन्होंने, जहाँ तक हो सका, जयन्त के ही शब्दों का उपयोग किया है। प्रमेय के बारह ही भेद क्यों किये गये, इसके उत्तर में प्रमाणरूप से जयन्त की ही कारिका उद्धृत की है। यद्यपि सामग्रीप्रामाण्य का निर्देश प्रशस्तपाद की व्योमवती टीका में पाया जाता है तथापि उसका स्वतंत्र निरूपण करके इतर मत का निरसन जयन्त ने ही किया है और न्यायकुमुद में उसका खण्डन है। प्रभाकराभिमत ज्ञातव्यापार के पूर्वपक्ष में मञ्जरीगत पूर्वपक्ष से सहायता ली गई है। उत्तरपक्ष में भी कहीं कहीं तो मञ्जरी की पंक्तियाँ ही ले ली गई हैं। चार्वाक के प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद के पूर्वपक्ष में न्यायमञ्जरी से ही सहारा लिया गया है, उसमें 'अपि च' करके लिखी गई १७ कारिकाएँ भी साक्षात् मञ्जरी से ही ली गई जान पड़ती हैं। इसी प्रकार अन्य भी कई प्रकरणों में मञ्जरी का अनुसरण किया गया है। कहीं कहीं तो इतना सादृश्य है कि उसके आधार पर हम न्यायकुमुद का पाठ शोधन कर सके हैं।

वैशेषिकदर्शन—वैशेषिकदर्शन के निरूपण में प्रशस्तपादभाष्य का मुख्यतया उपयोग किया गया है। तथा व्याख्याओं में भाष्य की टीका व्योमवती का अनुसरण किया है। चार्वाक के प्रति आत्मसिद्धि, ज्ञानाद्वैतवादी के प्रति बाह्यार्थसिद्धि आदि प्रकरणों में प्रयुक्त युक्तियाँ व्योमवती से शब्दशः मिलती हैं। व्योमवती में अनेकान्त भावना से मोक्ष प्राप्ति हो सकने का खण्डन किया गया है उसका खण्डन प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमल में किया है। मोक्षसाधनस्वरूपविषयक खण्डन मण्डन में व्योमवती का साहाय्य स्पष्ट है।

सांख्य-योग—सांख्य-योग के निरूपण में योगसूत्र, व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी, सांख्य-कारिका, माठरवृत्ति आदि ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। पूर्वपक्ष के निर्देश में प्रमाणरूप से योगसूत्र का उल्लेख करने पर भी व्याख्यांश में व्यासभाष्य का आधार लिया है। इसी तरह प्रमाणरूप से सांख्यकारिका की कारिकाएँ उद्धृत करके व्याख्यांश में माठरवृत्ति का उपयोग किया है। कहीं कहीं सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य का भी उपयोग किया है। प्राकृत, वैकारिक दक्षिणा आदि तीन बन्धों का स्वरूप माठरवृत्ति से लिया गया प्रतीत होता है।

वेदान्तदर्शन में—ब्रह्माद्वैतवाद के निरूपण में यद्यपि बृहदारण्यक, छान्दोग्य, आदि उपनिषदों के वाक्यों को प्रमाणरूप से उद्धृत किया है तथापि उसका मुख्य आधार ब्रह्मसूत्र और उसका शांकरभाष्य ही है। शांकरभाष्य के ही शब्दों में ब्रह्माद्वैत का पूर्वपक्ष स्थापित किया है तथा उसी की युक्तियों के आधार पर पूर्वपक्ष में आगत वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषों का परिहार किया है।

मीमांसादर्शन में—जैमिनिसूत्र, शाङ्करभाष्य और कुमारिल के श्लोकवार्तिक का आधार लेकर शब्दन्तित्ववाद की स्थापना बड़े विस्तार से की है। स्फोटवाद, अपोहवाद और सृष्टि-कर्तृत्ववाद के खण्डन में कुमारिल का अनुसरण किया है और प्रमाणरूप से श्लोकवार्तिक की कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। सर्वज्ञता के पूर्वपक्ष की रूपरेखा तत्त्वसंग्रह से ली गई जान पड़ती है तथापि श्लोकवार्तिक की युक्तियाँ पूर्वपक्ष में समाविष्ट की गई हैं। प्रभाकर की बृहती में निर्दिष्ट स्मृतिप्रमोष का खण्डन यद्यपि इतर दार्शनिकों ने भी किया है फिर भी जैन

साहित्य में तो सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्तण्ड में ही उसके दर्शन होते हैं। शालिकानाथ का भी कहीं कहीं अनुसरण किया है। कुमारिल के अभिहितान्वय तथा प्रभाकर के अन्विताभिधान का खण्डन भी प्रभाचन्द्र ने किया है। सर्वज्ञविषयक पूर्वपक्ष के निरूपण में बहुत सी कारिकाएँ ऐसी उद्धृत हैं जो श्लोकवार्तिक में नहीं पाई जाती। ऐसी संभावना है कि वे कुमारिल के बृहट्टीका नामक ग्रन्थ की कारिकाएँ हैं।

बौद्धदर्शन—भारतीयदर्शन शास्त्र के तीन युग कल्पना किये जा सकते हैं—वैदिकयुग, बौद्धयुग और जैनयुग। वैदिकयुग में वेदानुयायी दर्शनों का समावेश किया जाता है जो वेद के प्रामाण्य की रक्षा करते हुए पदार्थ का विवेचन करते हैं। बौद्धयुग में वेदप्रामाण्य का निरसन करके न्यायशास्त्र में खूब परिवर्तन और परिवर्द्धन किया गया है। जैनयुग में बौद्धदर्शन की न्यायशास्त्रविषयक रूपरेखाओं का अनुसरण करते हुए आगमिक मन्तव्यों को दार्शनिक रूप दिया गया है। जैनयुग के आचार्यों ने किसी किसी मन्तव्य के सम्बन्ध में इतने मौलिक विचार प्रकट किये हैं कि उसे पृथक् युग कहना ही चाहिए। सभी मन्तव्यों का स्याद्वाददृष्टि से समन्वय करना हो इस युग की विशेषता है।

जैन और बौद्ध दोनों ही वेद को प्रमाण नहीं मानते, अतः वैदिकदर्शनों के खण्डन में हम दोनों को कन्धे से कन्धा मिलाये खड़ा देखते हैं किन्तु दोनों के खण्डनांश में अपनी अपनी दृष्टि काम करती है। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र से उपाध्याय यशोविजय पर्यन्त सभी श्वेताम्बर तथा दिगम्बर विद्वानों पर बौद्धयुग का प्रभाव होने पर भी उनकी मौलिक दृष्टि सुरक्षित बनी है। वेदविरोधी होने पर भी दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर है अतः दोनों एक दूसरे का भी खण्डन करते हैं। जैनदर्शन का वह अंश बहुत ही महत्वपूर्ण है जिसमें बौद्धसम्मत मन्तव्यों की कड़ी आलोचना की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, अर्चट, यशोमित्र, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध नैयायिकों के ग्रन्थों का जहाँ खण्डन किया है वहाँ परपक्ष के खण्डन में उनका सहारा भी लिया गया है।

वैयाकरणदर्शन—शब्दाद्वैत के आद्य प्रवर्तक वाक्यपदीयकार भरवृहरि कहे जाते हैं। प्रकृत-ग्रन्थ में स्फोटवाद, शब्दाद्वैतवाद आदि के पूर्वपक्ष के निरूपण में प्रभाचन्द्र ने यद्यपि तत्त्वसंग्रह, उसकी पञ्जिका और न्यायमञ्जरी से साहाय्य लिया है तथापि वे मन्तव्य वाक्यपदीय के ही हैं, तथा प्रमाणरूप से उसकी कारिकाएँ भी उद्धृत की गई हैं।

उक्त दर्शनों के ग्रन्थों के सिवाय तत्त्वोपप्लववाद पर तत्त्वोपप्लव नामक ग्रन्थ के रचयिता जयसिंहराशिभट्ट का भी अनुसरण प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उसमें निर्दिष्ट विकल्पों के आधार पर ही संशयज्ञान आदि के पूर्वपक्षों का संघटन किया है। तथा समवाय के खण्डन में इस ग्रन्थ के बहुत से विकल्पों को अपनाया है।

जैनाचार्य—प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में विद्यानन्द और अनन्तवीर्य का स्मरण किया है और यह भी लिखा है कि अनन्तवीर्य की उक्तियों की सहायता से ही वे अकलङ्क के प्रकरणों को समझने में समर्थ हुए हैं तथा उनके ग्रन्थों का आलोचन करने से भी यही प्रतीत होता है कि उनपर विद्यानन्द और अनन्तवीर्य की शैली का ही विशेष प्रभाव है। उनके ग्रन्थों से न्याय-कुमुद का जहाँ जहाँ सादृश्य है वहाँ वहाँ टिप्पणों के द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी गई है।

उत्तरकालीन ग्रन्थकारों में जो जैन ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र की शैली से प्रभावित हुए तथा जिन्होंने प्रभाचन्द्र के लेखों का अनुसरण किया, उनमें सम्प्रतिर्कटीका के रचयिता अभयदेव सूरि तथा स्याद्वादरत्नाकर के रचयिता वादिदेवसूरि का नाम उल्लेखनीय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के मौलिक मतभेद के आधारभूत दो सिद्धान्त समझे जाते हैं, एक केवलि-मुक्ति और दूसरा स्त्रीमुक्ति। प्रभाचन्द्र से पहले इन सिद्धान्तों का निषेध और विधि दोनों सम्प्रदाय के आगामिक ग्रन्थों में ही देखे जाते थे किन्तु प्रभाचन्द्र ने पूर्वपक्षस्थापन और उसका खण्डन करके दार्शनिक क्षेत्र में भी इस विवाद को स्थान दिया। अतः उनके बाद अभयदेव सूरि और वादिदेवसूरि ने प्रभाचन्द्र के मार्ग का अनुसरण करके उक्त दोनों सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बरमान्यता का खण्डन करके श्वेताम्बरमान्यता का स्थापन किया। स्याद्वादरत्नाकर को प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों के प्रकाश में पढ़ने पर पाठक को पता चलता है कि प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों से रत्नाकर में कितना आदान किया गया है। रत्नाकर के सम्बन्ध में यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि न्यायकुमुद के बहुत से अंश वहाँ आनुपूर्वी से उ्यों के त्यों पाये जाते हैं और न्यायकुमुद के संशोधन में हमें उनसे बहुत सहायता मिली है। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाणसीमांसा पर भी परम्परा से प्रभाचन्द्रका प्रभाव है, क्योंकि प्रभाचन्द्र के प्रमेय-कमलमार्तण्ड की रचना के बाद अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला का निर्माण किया था और आचार्य हेमचन्द्र के प्रकरण पर प्रमेयरत्नमाला का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। मल्लिषेण की स्याद्वादमञ्जरी, तथा उपाध्याय यशोविजयजी पर भी प्रभाचन्द्र की शैली का प्रभाव पड़ा है। उपाध्यायजी ने उनके विकल्पजालों को अपने ढंग से अपनाया है।

इस प्रकार जैन तथा जैनैतर दार्शनिकों के साथ प्रभाचन्द्र की तुलना करने से प्रभाचन्द्र के अगाध पाण्डित्य और अनुपम तर्कशैली की रूपरेखा हृदय में अंकित हो जाती है और उसके प्रकाश में हम देखते हैं कि तत्त्वस्थापन में साम्प्रदायिक दृष्टि होते हुए भी दार्शनिक क्षेत्र में ज्ञान के आदानप्रदान में साम्प्रदायिकता नहीं थी और न एक दर्शन के विद्वान इतर दर्शनों का परिशीलन करने से विमुख ही होते थे। यदि पुरातन दार्शनिक विपक्षी दार्शनिकों के शास्त्रों के अध्ययन से मुख मोड़े रहते तो वे कभी भी दार्शनिक क्षेत्र में सफल नहीं हो सकते थे और न उन ग्रन्थरत्नों का निर्माण ही कर सकते थे जिन पर न केवल उस समाज को ही बल्कि भारतवर्ष को अभिमान है।

३. विषयपरिचय

लघीयस्त्रय स्वोपपन्नविवृति और न्यायकुमुदचन्द्र का विषयपरिचय एक साथ देने से तुलनात्मक अध्ययन के प्रेमियों को सरलता रहेगी, तथा अन्य भी कई आवश्यक बातों पर प्रकाश पड़ सकेगा, अतः तीनों का संक्षिप्त विषयपरिचय क्रमशः एकसाथ दिया जाता है।

प्रथम परिच्छेद

का० १-२—प्रथम कारिका के द्वारा तीर्थङ्करों को नमस्कार और दूसरी के द्वारा कण्टकशुद्धि की गई है। न्या० कु० में प्रथम कारिका की केवल व्याख्या की गई है और दूसरी का व्याख्यान करते हुए बौद्धों के सन्तानवाद की विस्तार से आलोचना की है।

का० ३—तीसरी कारिका में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाकर उसके दो भेद किये हैं, एक मुख्य प्रत्यक्ष और दूसरा सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष, तथा शेष अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष बतलाया है। विवृति में अज्ञानरूप सन्निकर्षादि के प्रामाण्य का निरसन करके तत्त्व का निर्णय करने में साधकतम ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है।

न्या० कु० में सम्बन्ध, अभिषेय आदि की चर्चा करके कारिका का व्याख्यान करने के बाद, विवृति का व्याख्यान करते हुए, यौगों के सन्निकर्षवाद, भट्ट जयन्त के कारकसाकस्यवाद, सांख्यों के इन्द्रियवृत्तिवाद, प्रामाण्यों के ज्ञातुव्यापारवाद, बौद्धों के निर्विकल्पकप्रामाण्यवाद तथा विपर्ययज्ञान को भिन्न २ रूप से मानने वाले वादियों की विवेकाख्याति आदि विप्रतिपत्तियों का निरसन करके प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाक की आलोचना की है।

समन्वय—विवृति के सन्निकर्षादि शब्द से विभिन्न प्रामाण्यवादों का सङ्कलन किया है। विपर्यास शब्द का अवलम्बन लेकर ख्यातियों की चर्चा की है और परोक्षप्रमाण का समर्थन करने के लिये चार्वाक के मत की आलोचना की है।

का० ४—में वैशद्य और अवैशद्य का स्वरूप बतलाया है। उसकी विवृति में सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष के दो भेद—इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष—करके अतीन्द्रियज्ञानी सर्वज्ञ की सिद्धि की है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व, चक्षु के प्राप्यकारित्व सर्वज्ञाभाव तथा सांख्य और यौग के ईश्वरवाद की आलोचना की है।

समन्वय—इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की चर्चा व्याख्याकार से ही सम्बन्ध रखती है विवृति में उसका संक्षेप तक भी नहीं है। विवृतिकार ने सर्वज्ञ की चर्चा की है और उसी के सम्बन्ध से व्याख्याकार ने ईश्वरवाद का खण्डन किया है।

का० ५—में अवग्रह, ईहा और अवाय का स्वरूप बतलाया है। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए प्रसङ्गवश, विषय, विषयी, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा लब्धि और उपयोग का भी स्वरूप बतलाया है। तथा यह भी बतलाया है ज्ञान के इन भेदों में अवस्थाभेद से नामभेद है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए संवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत, आदि की आलोचना की है। तथा इन्द्रियों को भौतिक मानने वाले नैयायिक और आहङ्कारिक मानने वाले सांख्यों के मत की समीक्षा करके अतीन्द्रियशक्ति का समर्थन किया है। अन्त में ज्ञान की साकारता की भी चर्चा की है।

समन्वय—इन्द्रियों का विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु बतलाने के कारण व्याख्याकार ने अद्वैतवादों की समीक्षा की है। इन्द्रियों को पौद्गलिक सिद्ध करने के लिए नैयायिक और सांख्य की समीक्षा की है। लब्धि के लक्षण में आगत शक्तिशब्द का आश्रय लेकर शक्ति की सिद्धि की है। 'अर्थ' पद से ज्ञान की साकारता, निराकारता की चर्चा की है।

का० ६—के पूर्वार्द्ध में धारणा का स्वरूप बतलाकर उन्हें सतिज्ञान का भेद बतलाया है। विवृति में धारणा को ही संस्कार नाम देकर, ईहा और धारणा को ज्ञानस्वरूप मानने की सम्मति दी है। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र है।

का० ६-७—में उक्त चारों ज्ञानों में से प्रत्येक के बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव, तथा इतके विपरीत एक, एकविध आदि भेद करके सतिज्ञान के ४८ भेद किये हैं और

स्वसंवेदन ज्ञान के भी इतने ही भेद माने हैं। तथा प्रमाण और फल की व्यवस्था करते हुए पूर्व पूर्व ज्ञान को प्रमाण और उत्तर उत्तर ज्ञान को उनका फल बतलाया है विवृति में बौद्धाभिमत प्रमाण-फलव्यवस्था का खण्डन करके स्वमत का समर्थन किया है।

न्या० कु० में कारिका के 'स्वसंविदाम्' पद के आधार पर अस्वसंवेदिज्ञानवादी मीमांसक और सांख्य के तथा ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादी नैयायिकों के मत की आलोचना करके ज्ञान को स्वसंवेदी सिद्ध किया है। तथा स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना करके अभ्यासदशा में स्वतः और अतभ्यासदशा में परतः प्रामाण्य की स्थापना की है। स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना मूलकार से सम्बन्ध नहीं रखती। अन्त में विवृति का व्याख्यान करते हुए प्रमाण और फल के सर्वथा भेदवाद का निरसन करके कथञ्चित् तादात्म्य का समर्थन किया है।

द्वितीय परिच्छेद

का० ७—के उत्तरार्द्ध में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय बतलाया है। विवृति में उसी का समर्थन करते हुए कहा है कि अनेकान्त से ही वस्तु की सिद्धि हो सकती है, भेदैकान्त या अभेदैकान्त से नहीं, तथा बौद्धों का स्वलक्षण और अद्वैतवादियों का सामान्य प्रमाण का विषय नहीं हो सकते। न्या० कु० में विवृति में प्रतिपादित भेदैकान्त और अभेदैकान्त की अनुपलब्धि के आधार पर वैशेषिक के षट्पदार्थवाद, नैयायिक के षोडशपदार्थवाद, सांख्य के पञ्चविंशतितत्त्ववाद और चार्वाक के भूतचैतन्यवाद का विस्तार से खण्डन किया है। अन्त में द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भेद मानने वाले यौगों का निरसन करके कथञ्चित् भेदाभेद की स्थापना की है।

का० ८—में बतलाया है कि नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्त में अर्थक्रिया नहीं हो सकती। विवृति में वस्तु की उत्पत्ति को ही उसकी अर्थक्रिया कहने वाले बौद्धों का उपहास करते हुए क्षणिकवाद में अर्थक्रिया के अस्तित्व की आलोचना की है। न्या० कु० में सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य वस्तु में अर्थक्रिया का अभाव सिद्ध करके, प्रसङ्गवश वैभाषिकों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद का खण्डन किया है।

का० ९—के पूर्वार्द्ध तथा उसकी विवृति में निरंशज्ञानवादी यौगाचार को उत्तर देते हुए एकत्व में विक्रिया और अविक्रिया का अविरोध प्रमाणित किया है। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र है।

का० ९—के उत्तरार्द्ध और १० के पूर्वार्द्ध में संवेदनाद्वैतवादी का दृष्टान्त देकर तत्त्व को अनेकान्तात्मक सिद्ध किया है। विवृति में उसी का स्पष्टीकरण करते हुए द्रव्यपर्यायात्मक आन्तर और बाह्य वस्तु को ही प्रमाण का विषय बतलाया है। न्या० कु० में सत्ता के समवाय से वस्तु को सत् मानने वाले यौगों का निरसन करके उत्पादव्ययप्रौव्यात्मक वस्तु को ही सत् बतलाया है।

तिसरा परिच्छेद

का० १०—के उत्तरार्द्ध और ११ के पूर्वार्द्ध में मति, स्मृति आदि ज्ञानों को शब्दयोजना निरपेक्ष होने से प्रत्यक्ष और शब्दयोजना सापेक्ष होने से परोक्ष बतलाया है। विवृति में उत्तरज्ञानों को पूर्वज्ञानों का फल बतलाकर स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानों को प्रमाण माना है।

न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को पृथक् प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ११—के उत्तरार्द्ध और १२ के पूर्वार्द्ध में बतलाया है कि साध्य और साधन के अविनाभावसम्बन्ध को न तो निर्विकल्पकप्रत्यक्ष जान सकता है और न सविकल्पक, अतः उसके जानने के लिये तर्क नाम का प्रमाणान्तर मानना चाहिए। विवृति में भी इसी का समर्थन किया है। न्या० कु० में यौग और बौद्धों के इस मत की, कि प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले सविकल्पक ज्ञान से व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है, विस्तार से आलोचना की है और सिद्ध किया है कि इन्द्रिय मानस और योगिप्रत्यक्ष व्याप्ति को ग्रहण करने में असमर्थ हैं।

का० १२—के उत्तरार्द्ध और १३ के पूर्वार्द्ध में अनुमान प्रमाण का लक्षण और उसका फल बतलाया है। विवृति में विधिसाधक हेतु के केवल दो ही भेद—स्वभाव और कार्य—मानने वाले बौद्धों का खण्डन किया है। न्या० कु० में बौद्धों की आलोचना करते हुए, अनुमान में पक्षप्रयोग को आवश्यक बतलाया है। फिर त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य को हेतु का लक्षण मानने वाले बौद्ध और यौगों की मान्यता का निरसन करके विवृति के मन्तव्य को पुष्ट किया है।

का० १३—के उत्तरार्द्ध और उसकी विवृति में जलचन्द्र का दृष्टान्त देकर कारणहेतु का समर्थन किया है। कुमारिल का मत है कि जल आदि स्वच्छ वस्तुओं में हमें मुख आदि का जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वह प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु हमारी नयनरश्मियाँ जल से टकराकर लौटती हुई हमारे ही मुख को देखती हैं, उसे हम भ्रान्ति से जलगत बिम्ब का दर्शन समझ लेते हैं। न्या० कु० में इस मत की आलोचना की है और प्रमाणित किया है कि स्वच्छ वस्तुओं में दूसरी वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है।

का० १४—में पूर्वचर हेतु का समर्थन किया है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए लिखा है कि बौद्धों के अनुमान के तीन प्रकार और नैयायिकों के पाँच प्रकार का नियम नहीं बनता। तथा सांख्य के अनुमान के सात प्रकारों का स्वरूप समझाकर उनकी संख्या के नियम को भी पूर्वचर उत्तरचर आदि हेतुओं के आधिक्य से विघटित किया है।

का० १५—में बतलाया है कि अदृश्यानुपलब्धि से भी वस्तु के अभाव का ज्ञान हो सकता है। विवृति में उसी को स्पष्ट किया है। न्या० कु० में, अभाव को जानने के लिये अभाव नाम का एक पृथक् प्रमाण मानने वाले मीमांसकों के मत की विस्तार से आलोचना की है। और सिद्ध किया है कि अभाव भी वस्तु का ही धर्म है अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही उसका ज्ञान हो सकता है।

का० १६—में बौद्धों को उत्तर देते हुए लिखा है कि सविकल्पकप्रत्यक्ष से क्षणभङ्गता की प्रतीति नहीं होती, उससे तो स्थिर स्थूलाकार पदार्थ की ही प्रतीति होती है। विवृति में भी कारिकोक्त मन्तव्य का समर्थन किया है। इस प्रकार बौद्धों के अनुपलब्धिहेतु की अलोचना करने के बाद।

का० १७—में उनके स्वभाव और कार्यहेतु की आलोचना की है। विवृति में भी उसी का स्पष्टीकरण करते हुए, तर्कप्रमाण के बिना अनुमान-अनुमेय तथा कार्य-कारण व्यवहार की अनुपपत्ति बतलाई है।

का० १८—में कहा है कि बौद्धमत में विकल्पबुद्धि ही सिद्ध नहीं होती। विवृति में उसी का स्पष्टीकरण करते हुए, सविकल्पबुद्धि का स्वतः और परतः निर्णय मानने में दोष बतलाये हैं। न्या० कु० में १६, १७ और १८ कारिका का व्याख्यानमात्र किया है।

का० १९—में नैयायिक के उपमान प्रमाण की आलोचना करते हुए कहा है—यदि सादृश्यज्ञान को उपमान नामका प्रमाण मानते हो तो वैसादृश्य ज्ञान को किस प्रमाण के नाम से पुकारोगे ? विवृति में नैयायिकों की प्रमाणसंख्या का विघटन किया है। मीमांसक और नैयायिक के उपमान प्रमाण की परिभाषा में थोड़ा सा अन्तर है। अकलंकदेव ने केवल नैयायिक की परिभाषा का उल्लेख किया है किन्तु न्या० कु० में नैयायिक और मीमांसक, दोनों के लक्षणों की आलोचना की है और प्रमाणित किया है कि सादृश्यप्रत्यभिज्ञान से अतिरिक्त उपमाननाम का कोई प्रमाण नहीं है। नैयायिक के मत की आलोचना करते हुए प्रभाचन्द्र ने बुद्धनैयायिकों के एक मत का उल्लेख किया है, जो आप्त पुरुष के 'गौ के समान गवय होता है' इस सादृश्यप्रतिपादक वाक्य को ही उपमानप्रमाण कहते हैं। प्रभाचन्द्र ने इसे आगम-प्रमाण बतलाया है।

का० २०—में कहा है कि यदि वाच्यवाचक सम्बन्ध का ज्ञान प्रमाण नहीं है तो सादृश्य सम्बन्ध का ज्ञान उपमान भी प्रमाण नहीं हो सकता। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे किसी मनुष्य ने किसी आप्तपुरुष से जाना कि अमुक नगर से अमुक दिशा में अमुक नाम का ग्राम है और उसकी अमुक अमुक पहचान है। मनुष्य उस ग्राम के निकट पहुँच कर आप्त पुरुष के वचनों को स्मरण करके जान जाता है कि अमुक नाम का ग्राम यही है। इस प्रकार के संज्ञा और संज्ञी के सङ्कलनरूप ज्ञान को उपमान की तरह पृथक् प्रमाणान्तर मानना चाहिए। न्या० कु० में व्याख्यानमात्र किया है।

का० २१—में स्मृति और प्रत्यक्ष के सङ्कलनात्मक ज्ञान के बहुत से भेद बतलाकर उन्हें उपमान से पृथक् प्रमाणान्तर आपादित किया है। विवृति में कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट करके अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया है। न्या० कु० में अर्थापत्ति प्रमाण के सम्बन्ध में कुमारिल के मत की विस्तार से आलोचना की है।

चतुर्थपरिच्छेद

का० २२—में लिखा है कि तैमिरिक रोगी का ज्ञान भी कथञ्चित् प्रत्यक्षाभास है। विवृति में उसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि तैमिरिक रोगी को दो चंद्रमा दिखाई देते हैं, अतः उनका ज्ञान केवल संख्या के सम्बन्ध में ही विसम्बादी है, चंद्रमा के सम्बन्ध में नहीं। अतः द्विचन्द्र-ज्ञान को सर्वथा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

का० २३—में सविकल्पज्ञान को प्रमाण और विवृति में निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाणाभास बतलाया है।

का० २४—में 'प्रत्यक्षबुद्धि में कल्पना या विकल्प की प्रतीति नहीं होती अतः उसे निर्विकल्पक ही मानना चाहिए' बौद्ध के इस मत की आलोचना की है। विवृति में भी उसी बात को समझाया है।

का० २५—में प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था करते हुए बतलाया है कि प्रत्यक्ष स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि पूर्वोक्त ज्ञान प्रमाण हैं क्योंकि उनसे व्यवहार में कोई विसंवाद उप-

स्थित नहीं होता। किन्तु यदि उनमें से कोई ज्ञान क्वचित् कदाचित् वस्तु का ठीक ठीक प्रतिभास नहीं करा सकता तो उसे प्रमाणाभास समझना चाहिए। विवृति में भी कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट किया है। न्या० कु० में कारिका २२ से २५ तक का व्याख्यानमात्र है।

का० २६—में कहा है कि श्रुतज्ञान भी प्रमाण है। विवृति में बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि शाब्दज्ञान से बाह्य अर्थ का बोध होता है। न्या० कु० में शाब्दज्ञान को अनुमान प्रमाण कहने वाले वादी के मत का खण्डन किया है। शाब्दज्ञान को अप्रमाण मानने वाले वादियों का निरसन करके उसे प्रमाण सिद्ध किया है। शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध की आलोचना करके उनका कथञ्चित् नित्य सम्बन्ध बतलाया है। बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन करके केवल सामान्य को शब्द का विषय माननेवालों का निरसन किया है। और विधि नियोग भावना आदि को शब्द का अर्थ माननेवाले वेदान्ती भाट्ट आदि के मत की विस्तार से आलोचना की है।

का० २७—में कहा है कि क्वचित् कदाचित् श्रुतज्ञान को विसंवादी देखकर यदि उसे सर्वत्र सर्वदा मिथ्या ही माना जाएगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान को भी सर्वत्र मिथ्या मानना होगा, क्योंकि कभी कभी ये भी विसंवादी हो जाते हैं। विवृति में कारिका के मन्तव्य का समर्थन किया है।

का० २८—में कहा है कि यदि आप्तपुरुष के वचन और हेतुप्रयोग से बाह्य अर्थ का निश्चय नहीं मानते हो तो सत्य और असत्य वचनों की तथा साधन और साधनाभास की व्यवस्था किस प्रकार हो सकेगी ? विवृति में उदाहरण देकर कारिका के मन्तव्य को स्पष्ट किया है।

का० २९—में बतलाया है कि यदि पुरुषों के मनोगत भावों में और वचनों में अन्तर देखकर वचन को अर्थ का व्यभिचारी कहा जाता है तो विजातीय कारण से कार्योत्पत्ति की संभावना मानकर विशिष्ट कार्य से विशिष्ट कारण का अनुमान नहीं किया जा सकता। विवृति में, बौद्धों के स्वभाव और कार्य हेतु में व्यभिचार की संभावना बतलाकर कहा है कि यदि अन्यथा नुपपत्ति के बल पर स्वभाव और कार्य हेतु से परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति स्वीकार करते हो तो शाब्दज्ञान से भी अर्थ की प्रतिपत्ति माननी चाहिए। अतः श्रुतज्ञान प्रमाण है। न्या० कु० में २७, २८ और २९ का० का व्याख्यान मात्र है।

पञ्चम परिच्छेद

का० ३०—में नय और दुर्नय की परिभाषा की है। विवृति में नय के दो भेद किये हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक अभेद अर्थात् सत्सामान्य को विषय करता है।

का० ३१—में सत्सामान्य की व्याख्या करते हुए, जीव अजीव आदि समस्त भेदभ्रमेदों को सत् में अन्तर्भूत बतलाया है। और उसके समर्थन में चित्रज्ञान और जीव का दृष्टान्त दिया है। विवृति में इसी का स्पष्टीकरण किया है।

का० ३२—में कहा है कि संग्रहण शब्दद्रव्य अर्थात् सत्सामान्य को विषय करता है। विवृति में कारिका के आशय को समझाते हुए लिखा है कि कोई भी वस्तु सर्वथा असत् नहीं है तथा कोई भी ज्ञान सत् को जाने बिना वस्तु को नहीं जान सकता।

का० ३३—में विशेषवादी बौद्ध को उत्तर देते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष में बौद्धकल्पित निरंशक्षणों की प्रतीति नहीं होती। विवृति में भी प्रकारान्तर से इसी बात का समर्थन किया है।

का० ३४—में बतलाया है कि जैसे बौद्धमत में एक ज्ञान अपने अनेक आकारों के साथ प्रतिभासमान होता है उसी प्रकार जीवादि वस्तु अपने अनेक गुणों और पर्यायों के साथ सर्वदा प्रतिभासमान होती है। यहाँ क्षणपरम्परा में अनुस्यूत एक द्रव्य को न माननेवाले बौद्धों के प्रति ऊर्ध्वता सामान्य की सिद्धि की गई है और विवृति में भी उसी का समर्थन किया है।

का० ३५—में कहा है कि वस्तु का लक्षण अर्थक्रिया है, किन्तु यह लक्षण क्षणिकैकान्त में नहीं रहता, क्योंकि यदि कारण के रहते हुए ही कार्य की उत्पत्ति होती है तो कार्यकारणभाव नहीं बन सकता। विवृति में भी इसी के सम्बन्ध में विशेष कहा है।

का० ३६—में कहा है कि कारण के रहते हुए यदि कार्य की उत्पत्ति न हो सकती तो क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया का सिद्ध करना उचित होता, किन्तु ऐसा नहीं है, कारण के कथञ्चित् रहते हुए ही कार्य की उत्पत्ति होती है। विवृति में व्यतिरेकरूप से कारिका का व्याख्यान करते हुए क्षणिकैकान्त में कार्योत्पत्ति का निषेध किया है।

का० ३७—और उसकी विवृति में बौद्धों के क्षणिक स्वलक्षण और ज्ञानक्षण का उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि एक वस्तु अनेक कार्य कर सकती है और अनेक धर्मों में व्याप्त होकर रह सकती है।

का० ३८—में संग्रहनय और संग्रहाभास का विषय बतलाया है। विवृति में कहा है कि 'सन्मात्र ही तत्त्व है' यह संग्रहनय का अभिप्राय है। किन्तु इस अभिप्राय में भेददृष्टि का निषेध नहीं है। यदि ऐसा होता तो संग्रहनय के विषय और ब्रह्मवाद में कोई अन्तर ही नहीं होता।

का० ३९—में नैगम और नैगमाभास का स्वरूप बतलाया है। विवृति में कहा है कि गुण गुणी, या धर्म धर्मी में से जब एक का कथन किया जाता है तो दूसरा गौण हो जाता है। यह नैगमनय का अभिप्राय है। किन्तु जहाँ गुण गुणी, अवयव अवयवी, क्रिया कारक, आदि को सर्वथा भिन्न माना जाता है, वह नैगमाभास है।

का० ४०—में यौगों के मत का निराकरण करते हुए कहा है कि सत्ता का सम्बन्ध होने से पहले वस्तु स्वयं सत् है या असत्? यदि सत् है तो सत्ता का सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि असत् है तो खरविषाण की तरह उसका सत्ता के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। विवृति में कारिका का आशय समझाते हुए, यौगों की तरह सांख्य की मान्यता को भी नैगमाभास में सम्मिलित किया है।

का० ४१—में कहा है कि प्रमाण की व्यवस्था व्यवहाराधीन है। किन्तु वह व्यवहार संग्रहाभास और नैगमाभास में मिथ्या है। अतः जब व्यवहार ही मिथ्या है तो मिथ्या व्यवहार के आधार पर निर्धारित प्रमाणव्यवस्था भी मिथ्या ही होगी, और प्रमाणव्यवस्था के मिथ्या होने पर स्वपक्ष और विपक्ष की सत्यता और असत्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता, अतः या तो दोनों ही सत्य होंगे या दोनों ही असत्य। विवृति में संग्रहाभास और नैगमाभास में प्रमाण की प्रवृत्ति का निषेध किया है।

का० ४२—में व्यवहारनय और तदाभास की चर्चा करते हुए बाह्य अर्थ के अस्तित्व को व्यवहारनय और विज्ञप्तिवाद तथा शून्यवाद को तदाभास बतलाया है। विवृति में कारिका के आशय को स्पष्ट किया है।

का० ४३—में बतलाया है कि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान पर्याय को विषय करता है। किन्तु बौद्धकल्पित चित्रज्ञान ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं है क्योंकि वह वास्तव में एक नहीं है।

किन्तु ज्ञानपरमाणुओं का एक समूहमात्र है। विवृति में संवित्परमाणुओं की आलोचना करके ऋजुसूत्र और तदाभास को समझाया है।

का० ४४—में शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय का स्वरूप बतलाया है। शब्दनय काल, कारक और लिङ्ग के भेद से अर्थभेद मानता है। समभिरूढ पर्यायभेद से अर्थभेद मानता है। एवंभूत क्रिया की प्रधानता से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। विवृति में कालभेद, कारकभेद, लिङ्गभेद और पर्यायभेद को उदाहरण देकर समझाया है। बौद्धों के एक दो मन्तव्यों की भी आलोचना की है।

का० ४५—में बौद्धों की आशंका का उत्तर देते हुए कहा है कि बौद्धमत में जब इन्द्रिय-ज्ञान अपने कारणभूत अतीत अर्थ को जानता है तो स्मृति भी अतीत विषय को क्यों नहीं जान सकती ? इन्द्रियज्ञान और स्मृति, दोनों का विषय एक है, केवल इतना अन्तर है कि इन्द्रिय-ज्ञान उसे स्पष्ट जानता है और स्मृति अस्पष्ट। विवृति में कारिकोक्त रहस्य को स्पष्ट करके शाब्दज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ४६—में कहा है कि शाब्दज्ञान और इन्द्रियज्ञान दोनों ही अविस्वादी हैं। केवल इतना अन्तर है कि शाब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। किन्तु इससे उसकी प्रमाणता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि अनुमान को-अस्पष्ट होते हुए भी-बौद्धों ने प्रमाण माना है। विवृति में इसे स्पष्ट किया है।

का० ४७—में कहा है कि काल कारक आदि का लक्षण अन्यत्र कहा है, वहाँ से जान लेना चाहिए। विवृति में काल कारक का लक्षण बतलाकर कहा है कि एकान्तवाद में षट्-कारकी नहीं बन सकती, अतः अनेकान्तवाद को अपनाना चाहिए।

का० ४८—में कहा है कि अनेक सामग्रियों की सहायता से एक वस्तु भी प्रतिसमय षट्-कारकरूप हो सकती है। विवृति में कारिका को स्पष्ट करते हुए नय दुर्नय और प्रमाण में अन्तर बतलाया है।

पद्य ४९ और ५० में प्रकरण का उपसंहार करते हुए वीर प्रभु का स्मरण किया है। न्या० कु० में इस परिच्छेद का व्याख्यानमात्र किया गया है।

षष्ठ परिच्छेद

का० ५१—में भगवान् महावीर को नमस्कार करके प्रमाण, नय और निक्षेप का कथन करने की प्रतिज्ञा की है।

का० ५२—में प्रमाण, नय और निक्षेप का लक्षण बतलाया है। विवृति में ज्ञान को ही प्रमाण सिद्ध किया है।

का० ५३—में कहा है कि ज्ञान अर्थ को तो जानता है किन्तु 'मैं अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ' यह नहीं जानता। यदि जानता, तो उसमें किसी को विवाद ही न होता। विवृति में कहा है कि यदि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता तो वह अर्थ को नहीं जान सकता, जैसे इन्द्रियों से उत्पन्न होकर भी वह इन्द्रियों को नहीं जानता है।

का० ५४—में कहा है कि यदि ज्ञान और अर्थ का अन्वय-व्यतिरेक होने के कारण अर्थ को ज्ञान का कारण कहा जाता है तो संशय विपर्यय आदि ज्ञान किससे उत्पन्न हुए कहे जायेंगे ? विवृति में कहा है कि यदि इन्द्रियगत और मनोगत दोषों को संशयादिज्ञान का जनक कहा जाता है तो अर्थ को ज्ञान का कारण मानने से क्या लाभ है ? दोषरहित इन्द्रिय और मन

से ही सत्यज्ञान की उत्पत्ति माननी चाहिए। अतः इन्द्रिय और मन को ज्ञान का कारण, तथा अर्थ को उसका विषय मानना ही श्रेयस्कर है।

का० ५५—में सन्निकर्ष के प्रामाण्य का निरसन करके ज्ञान को ही प्रामाण्य सिद्ध किया है। विवृति में कारिका का व्याख्यान करके आलोक को भी ज्ञान का कारण मानने का खण्डन किया है। न्या० कु० में का० ५१ से ५५ तक व्याख्यानमात्र किया है।

का० ५६—में कहा है कि अन्धकार का तो प्रत्यक्ष होता है किन्तु अन्धकार से आवृत वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। विवृति में कारिका के मन्तव्य को समझाते हुए सिद्ध किया है कि ज्ञान का रोधक ज्ञानावरणीय कर्म है, अन्धकारादि नहीं। न्या० कु० में, ज्ञान की अनुत्पत्तिमात्र ही तम है' इस मत की आलोचना करके तम और छाया को द्रव्य सिद्ध किया है।

का० ५७—में कहा है कि जैसे मल से आच्छादित मणि की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से देखी जाती है उसी तरह कर्मों से आवृत आत्मा के ज्ञान का विकास भी हीनाधिकरूप से अनेक प्रकार का देखा जाता है। विवृति में बतलाया है कि अपने २ योग्य ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार मन और इन्द्रियाँ ही ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, अर्थ और आलोक नहीं।

का० ५८—में बौद्धों का निराकरण करते हुए कहा है कि तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय न तो पृथक् २ ही ज्ञान के प्रामाण्य में कारण हैं और न मिलकर ही। विवृति में तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय का निराकरण किया है।

का० ५९—में उक्त चर्चा का उपसंहार करते हुए कहा है कि जैसे अपने कारणों से उत्पन्न होने पर भी अर्थ ज्ञान का विषय होता है उसी प्रकार अपने कारणों से उत्पन्न होने पर भी ज्ञान अर्थ को जानता है। विवृति में निष्कर्ष निकालते हुए कहा है कि अर्थ और ज्ञान में तदुत्पत्ति-सम्बन्ध न होने पर भी स्वाभाविक ग्राह्य ग्राहकसम्बन्ध है।

का० ६०—में कहा है कि ज्ञान स्व और पर का निर्णायक है अतः उसे ही मुख्य प्रमाण मानना चाहिए। विवृति में कहा है कि निश्चयात्मकता के बिना ज्ञान में अविस्मृतिरहितता नहीं आ सकती। आगे निर्विकल्पक ज्ञान से सविकल्पक की उत्पत्ति माननेवाले बौद्धों को लक्ष्य करके लिखा है कि जो स्वयं निर्विकल्पक है वह सविकल्पक को उत्पन्न नहीं कर सकता।

का० ६१—में और उसकी विवृति में प्रमाण के भेद-प्रभेदों की चर्चा प्रतिज्ञानुसार की गई है। प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और अतीन्द्रिय। इन्द्रियप्रत्यक्ष के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भी चार भेद हैं—स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध। श्रुतज्ञान परोक्ष है और उसमें अर्थोपपत्ति, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव होता है।

का० ६२—में श्रुतप्रमाण के दो उपयोग बतलाये हैं। उनमें से एक का नाम स्याद्वाद है और दूसरे का नाम नय है। संपूर्ण वस्तु के कथन को स्याद्वाद कहते हैं और उसके एक-देश के कथन को नय कहते हैं। विवृति में स्याद्वाद और नय का निरूपण विस्तार से किया है। और बतलाया है कि 'स्यात् जीव एव' यह प्रमाणवाक्य है और 'स्यादस्त्येव जीवः' यह नयवाक्य है। न्या० कु० में का० ५७ से ६२ तक व्याख्यानमात्र है।

का० ६३—में कहा है कि प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' शब्द और 'एव' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। यदि किसी वाक्य के साथ उनका प्रयोग न किया गया हो तो भी अर्थवशात्

उनकी प्रतीति हो जाती है। विवृति में स्यात्कार और एवकार के प्रयोग की आवश्यकता प्रदर्शित की है। न्या० कु० में विरोधियों का निरसन करके 'स्यात्' पद की सार्थकता सिद्ध की है।

का० ६४ और ६५—में लिखा है कि वर्ण, पद और वाक्य कभी २ अवाच्छित्त अर्थ को भी कह देते हैं और कभी २ वाच्छित्त को भी नहीं कहते। फिर भी बौद्धों का यह कहना कि 'शब्द वक्ता के अभिप्रायमात्र का सूचक है', लोकप्रतीति का उल्लंघन करके बोलनेवाले बौद्धों को ही शोभा देता है। विवृति में कारिका का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मनुष्य नहीं चाहता कि उसके मुख से अपशब्द निकलें, फिर भी वे निकल जाते हैं और मन्दबुद्धि मनुष्य चाहता है कि मैं शस्त्रों का व्याख्यान करूँ किन्तु नहीं कर पाता। अतः शब्द वक्ता के अभिप्राय मात्र के सूचक न होकर उससे भिन्न अर्थ के वाचक होते हैं। न्या० कु० में मीमांसकों के शब्दनित्यत्ववाद और वेदापौरुषेयत्ववाद की तथा वैयाकरणों के स्फोटवाद की विस्तार से आलोचना की है। इसके पश्चात् संस्कृत और प्राकृत भाषा के शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व की आलोचना करके कहा है कि शब्दों की प्रमाणता या अप्रमाणता में संस्कृतत्व और असंस्कृतत्व कारण नहीं है। जो शब्द सत्य अर्थ का प्रतिपादन करता है वह साधु है, जो नहीं करता वह असाधु है। जैसे संस्कृत शब्द संस्कृत के व्याकरण से सिद्ध होते हैं उसी प्रकार प्राकृत-शब्द प्राकृतव्याकरण से सिद्ध होते हैं आदि। तथा 'प्रकृतेर्भव प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति का निरसन करके 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति को अपनाया है। ब्राह्मणत्व जाति का भी खण्डन किया है।

का० ६६-६७ में कहा है कि श्रुतप्रमाण के नैगम आदि सात भेद हैं, जो नय कहाते हैं। विवृति में कारिकाओं का विस्तृत व्याख्यान करते हुए सब से प्रथम यह सिद्ध किया है कि श्रुत के सिवाय अन्य ज्ञानों के भेद नय नहीं हो सकते। उसके बाद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक को मूल नय बतलाकर द्रव्य और पर्याय की विस्तृत चर्चा की है। निश्चय और व्यवहार का भी निरूपण किया है।

का० ६८—में नैगमनय और तदाभास की चर्चा करके, विवृति में लिखा है कि नैगमनय में गुण और गुणी दोनों की यथासंभव विवक्षा होती है किन्तु संग्रह में केवल एक की ही विवक्षा होती है। यही दोनों में अन्तर हैं।

का० ६९—और उसकी विवृति में संग्रहनय और तदाभास की चर्चा है।

का० ७०—और उसकी विवृति में व्यवहारनय और तदाभास का निरूपण किया है तथा अन्त में शून्याद्वैत आदि को नयाभास बतलाया है क्योंकि वे व्यवहार के घातक हैं।

का० ७१—में ऋजुसूत्र और तदाभास का निरूपण है। विवृति में बौद्धों की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रतिभासभेद से स्वभावभेद की व्यवस्थापना करनेवाले बौद्धों को प्रतिभास के अभेद से अभेद को भी मानना ही होगा।

का० ७२—में नैगमादि चार नयों को अर्थनय और शब्दादि तीन नयों को शब्दनय बतलाया है। विवृति में शब्दनयों का व्याख्यान करके व्याकरणशास्त्र को सच्चा बतलाया है। न्या० कु० में का० ६६ से ७२ तक का व्याख्यानमात्र किया है।

सप्तम परिच्छेद

का० ७३-७६—में लिखा है कि प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगों के द्वारा पदार्थों को जानकर तथा जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणास्थान के द्वारा जीवद्रव्य को विशेषतया

जानकर यह आत्मा अपने सम्यग्दर्शन को विशुद्ध करता है और तपस्या के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके मुक्तिमुख का अनुभवन करता है। विवृति में लिखा है कि श्रुतप्रमाण और उसके भेद नयों के द्वारा जाने गये द्रव्य और पर्यायों का सङ्करव्यतिकररहित कथन करने को निक्षेप कहते हैं। उसके चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जाति, द्रव्य, गुण, और क्रिया की अपेक्षा न करके जो नामव्यवहार किया जाता है उसे नामनिक्षेप कहते हैं। किसी वस्तु में नामनिर्देशपूर्वक दूसरे की स्थापना करने को स्थापनानिक्षेप कहते हैं। भावि पर्याय की प्राप्ति के लिये अभिमुख वस्तु को द्रव्य कहते हैं। वह दो प्रकार का है—आगम और नोआगम। वर्तमानपर्यायविशिष्ट वस्तु को भावनिक्षेप कहते हैं। निक्षेप से अप्रस्तुत का निराकरण और प्रस्तुत का प्ररूपण किया जाता है, अतः निक्षेप उपयोगी है। अन्त में वैशेषिक सौगत और सांख्य के द्वारा माने गये मुक्तात्माओं के स्वरूप को दृष्टि में रखकर लिखा है कि मुक्तावस्था में न तो आत्मा के विशेषगुणों का उच्छेद ही होता है, न गुण और गुणी की सन्तान का नाश ही होता है और न भोग्य के न होने के कारण आत्मा सर्वथा अभोक्ता ही होता है। न्या० कु० में विवृति का व्याख्यान करते हुए, आवरण का अस्तित्व तथा स्वरूप बतलाकर उसकी निर्जरा प्रमाणित की है। तथा सांख्य, वैशेषिक, वेदान्ती और बौद्धों के मोक्ष के स्वरूप की आलोचना करके मोक्ष का स्वरूप स्थिर किया है। अन्त में श्वेताम्बरों की केवलमुक्ति और क्षीमुक्तिविषयक मान्यता का खण्डन किया है।

का० ७७—में शास्त्राध्ययन का फल 'जिन' पद की प्राप्ति बतलाया है।

का० ७८—में उसी बात को प्रकारान्तर से कहकर शुभ कामना की है। न्या० कु० में दोनों पक्षों का व्याख्यान किया है।

इस प्रकार इस संस्करण में मुद्रित ग्रन्थों का संक्षिप्त विषयपरिचय जानना चाहिए।

लघीयस्त्रय के दार्शनिक मन्तव्य

लघीयस्त्रय के विषयपरिचय को पढ़ने पर पाठकों को उसके दार्शनिक मन्तव्यों का आभास हो जाता है। लघीयस्त्रय में मुख्यतया तीन ही विषयों का विवेचन किया है—प्रमाण, नय और निक्षेप। उनमें से भी निक्षेप का तो केवल निर्देश कर दिया है। भट्टाकलंकविषयक प्रबन्ध के 'अकलंक के पहले जैनन्याय की रूपरेखा' और 'अकलंक की जैनन्याय को देन' शीर्षकों से प्रमाण की जैनसम्मत रूपरेखा पर प्रकाश पड़ सकेगा। यहाँ हम प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश में वर्णित विषयों की प्रवचनप्रवेश में द्विरुक्ति किये जाने के सम्बन्ध में कुछ कहेंगे।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। उसका मत है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर में विरोधी कहे जाने वाले नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनन्त धर्मों का समूह है, और वह प्रमाण का विषय है। जैनसिद्धान्त में ज्ञान के उत्पादक कारणों को प्रमाण न मानकर ज्ञान को ही प्रमाण माना है। प्रमाण के दो रूप हैं—स्वार्थ और परार्थ। ज्ञान के द्वारा वस्तु की साक्षात् ज्ञप्ति तो ज्ञाता को ही होती है। एक ज्ञाता के ज्ञान का साक्षात् उपयोग दूसरा ज्ञाता नहीं कर सकता, अतः उसके लिये शब्द का सहारा लेना पड़ता है। ज्ञान के द्वारा ज्ञाता जानता है और शब्द के द्वारा उसे दूसरों पर प्रकट करता है। इसी लिये ज्ञान को स्वाधिगम का हेतु और वचन को पराधिगम का हेतु कहा जाता है। किन्तु अधिगम का

कारण होने पर भी दोनों में एक मौलिक अन्तर है, ज्ञान अनेक वस्तुओं को या एक वस्तु के अनेक धर्मों को युगपत् जान सकता है किन्तु शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह उन्हें एकसाथ कह सके, वह तो एक समय में एक वस्तु या उसके एक धर्म को ही कह सकता है। अतः एक वस्तु के प्रतिपादक वक्ता के ज्ञान को श्रुत और उसके एक धर्म के प्रतिपादक वक्ता के ज्ञान को नय कहते हैं। भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाणशास्त्र और शब्दशास्त्र के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है और शब्द से अर्थ का बोध किस प्रकार होता है इस पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। किन्तु वस्तु और वस्त्वश के वाच्य-वाचक के भेद का विवेचन उन्होंने नहीं किया, इसी से प्रमाण के भेद नय का उल्लेख जैनदर्शन के सिवाय इतर दर्शनों में नहीं पाया जाता है और उसका कारण उनका एकान्तवादी होना है। किन्तु अनेकान्तवादी होने के कारण जैनदर्शन ने शब्द की प्रतिपादकत्वशक्ति पर भी विचार किया और उसकी असामर्थ्य का अनुभवन करके 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त का आविष्कार किया। उसने देखा कि वस्तु के अनन्त-धर्मा होने पर भी वक्ता अपने अपने दृष्टिकोण से उसका विवेचन करते हैं। द्रव्यदृष्टिवाला उसे नित्य कहता है, पर्यायदृष्टिवाला उसे अनित्य कहता है, अतः इन विभिन्न दृष्टियों का समन्वय होना आवश्यक है। इसके लिये जैनसिद्धान्त में नय का आविर्भाव हुआ, जो ज्ञाता के अभिप्राय को बतलाता है। इस प्रकार जैनशासन की मूलदृष्टि अनेकान्तवाद में से दो सिद्धान्तों का उद्गम हुआ। स्याद्वाद वस्तु को अनेकधर्मात्मक बतलाता है, नयवाद उसके किसी एक धर्म का कथन करनेवाले के दृष्टिकोण को बतलाता है। लघीयस्त्रय के प्रमाणप्रवेश में प्रमाण का और नयप्रवेश में नय का कथन करने पर भी दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण नहीं किया है। इसलिए प्रवचनप्रवेश में प्रमाण के भेदों को गिनाकर श्रुतप्रमाण के दो उपयोग बतलाये हैं—स्याद्वाद और नय, तथा यह भी बतलाया है कि नय श्रुतप्रमाण के ही भेद हैं। अतः प्रवचनप्रवेश की रचना में अकलंकदेव की वही दृष्टि नहीं है जो पहले के दो प्रवेशों में है। द्विरुक्ति होने पर भी उसमें मौलिकता है और वह मौलिकता जैनन्याय से ही सम्बन्ध रखती है।

श्रुत के दो उपयोग

शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के आधीन है। अतः वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता से वचनप्रयोग करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह वस्तु सर्वथा उस एक धर्मस्वरूप ही है। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि वहाँ पर विवक्षित धर्म की मुख्यता और शेष धर्मों की गौणता है। इसी लिये गौणधर्मों का द्योतक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ गुप्तरूप से सम्बद्ध रहता है। भगवान् महावीर ने अपने अनुपम वचनों के द्वारा पूर्ण सत्य का उपदेश किया और उनका उपदेश संसार में 'श्रुत' के नाम से ख्यात हुआ। भगवान् महावीर के उपदेश का प्रत्येक वाक्य 'स्यात्' 'कथञ्चित्' या किसी अपेक्षा से होता था, क्योंकि उसके बिना पूर्ण वस्तु का कथन नहीं हो सकता अतः उनके उपदेश 'श्रुत' को आचार्य समन्तभद्र ने 'स्याद्वाद' के नाम से सम्बोधित किया है। उर्हाँ का अनुसरण करते हुए अकलंकदेव ने श्रुत के दो उपयोग बतलाये हैं—एक स्याद्वादश्रुत और दूसरा नयश्रुत। एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु का बोध करानेवाले वाक्य को स्याद्वाद श्रुत कहते हैं। यह वाक्य पूर्ण वस्तु का बोध कराता है, अतः उसे सकलादेश भी कहते हैं। और अनेक धर्मा-

त्मक वस्तु का ज्ञाता ही ऐसे वाक्य का प्रयोग कर सकता है। अतः उसे प्रमाणवाक्य भी कहते हैं। तथा, अनेकधर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का बोध करानेवाले वाक्य को नयश्रुत कहते हैं, इसे विकलादेश भी कहते हैं। इस प्रकार श्रुत के दो उपयोग बतलाकर अकलंकदेव ने विवृति में दोनों के प्रयोग में कुछ अन्तर बतलाया है। वे लिखते हैं कि 'स्यात् जीव एव' यह प्रमाण वाक्य या सकलादेश है और 'स्यादस्येव जीवः' यह नयवाक्य या विकलादेश है। इससे यह आशय निकलता है कि धर्मिवाचक शब्दों के साथ स्यात् और एवकार का यदि प्रयोग किया जाता है तो वह सकलादेश है और यदि धर्मवाचक शब्दों के साथ उक्त दोनों पदों का प्रयोग किया जाता है तो वह विकलादेश है। किन्तु अपने राजवार्तिक में अकलंकदेव ने दोनों प्रकार के वाक्यों का एक ही उदाहरण 'स्यादस्येव जीवः' दिया है और उसके उभयरूप होने में युक्तियाँ भी दी हैं। जहाँ तक हम जानते हैं लघीयस्त्रय में प्रदर्शित मन्तव्य का अनुसरण उत्तरकालीन किसी भी आचार्य ने नहीं किया। प्रायः सभी ने दोनों प्रकार के वाक्यों का एक ही उदाहरण दिया है और प्रयोक्ता के दृष्टिकोण में अन्तर बतलाकर उसे ही प्रमाणवाक्य और उसे ही नयवाक्य बतलाया है। आचार्य विद्यानन्द ने तो स्पष्ट लिखा है कि समस्त शब्द किसी न किसी धर्म की अपेक्षा से ही व्यवहृत होते हैं। जैसे, जीव शब्द जीवनगुण की अपेक्षा से ही व्यवहृत होता है। इस प्रकार लघीयस्त्रय में प्रतिपादित उक्त मन्तव्य का प्रसार उत्तर काल में नहीं हो सका। इसी प्रकार प्रमाणों की परस्परता के सम्बन्ध में भी लघीयस्त्रय में एक नवीनता पाई जाती है। उसमें स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में अन्तर्भूत किया है, किन्तु उत्तरकालीन आचार्यों ने इसे भी नहीं अपनाया और वे परोक्ष में ही अन्तर्भूत किये गये। इसका विशेष विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ तो केवल इतना ही बतलाना है कि लघीयस्त्रय के उक्त दो मन्तव्यों का अनुसरण नहीं किया गया, किन्तु शेष को सभी ने एक स्वर से अपनाया है।

श्रीमद्भट्टाकलङ्क

प्राक्तथन

लघीयस्त्रय और उसकी विवृति के रचयिता श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव का स्थान जैनवाङ्मय में अनुपमेय है। यद्यपि उनकी सभी कृतियाँ अतिगहन और प्रखर दार्शनिकों के लिये भी दुरूह हैं, उनमें से एक भी कृति ऐसी नहीं है जो स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डावकाचार और उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र की तरह जनसाधारण में प्रचलित हो, किन्तु जैनसमाज में ऐसे विरले ही मनुष्य होंगे जो उनके नामसे परिचित न हों और अकलङ्क नाम को सुनकर जिनके मस्तक श्रद्धा से तव न हो जाते हों। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी जैनों के दोनों सम्प्रदायों के महान् ग्रन्थकारों ने आदर के साथ उनका स्मरण किया है और जैनन्याय में उनके द्वारा समाविष्ट किये गये मन्तव्यों को किसी भेदभाव के बिना व्योँ का व्योँ अपनाया है। इन्हें 'जैनन्याय के सर्जक' कहे जाने का सौभाग्य प्राप्त है और उनके नाम के आधार पर जैनन्याय को श्लेषात्मक 'अकलङ्कन्याय' शब्द से कहा है जो वीतराग जिन और उनके

अनुयायी भट्टाकलंक, दोनों का बोधक है। स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन के पश्चात् इसी प्रखर तार्किक ने अपनी प्रभावक कृतियों से जैनवाङ्मय के कोष को समृद्ध बनाया था। वे भारतीय साहित्यगगन में चमकनेवाले उन इने गिने नक्षत्रों में से थे जिनकी आलोकछटा से भारत-माता का मस्तक आज भी आलोकित है।

वे सब कुछ थे किन्तु उनकी जीवनगाथा गाने के लिये आज हमारे पास कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह 'न कुछ' के बराबर है। उनकी अमरकृतियाँ अपनी गोद में उनका अमर नाम लिये जोवित हैं, वे अपने कर्ता के बारे में जो कुछ बतला सकती हैं वह है उसका नाम, व्यक्तित्व और प्रकाण्ड पाण्डित्य। उनमें से एक आध कुछ अधिक बतलाने का साहस भी करती है तो उसका पता लगाने की सामग्री हमारे पास नहीं है। शिलालेख और ग्रन्थकार भी उनकी गुणगारिमा का गान करके ही रह जाते हैं। उन के पितृकुल गुरुकुल जन्मक्षेत्र और कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में वे मूक हैं। शेष रह जाती हैं कथाकारों की श्रद्धाञ्जलियाँ, किन्तु शताब्दियों का अन्तराल, कथाकारों की कल्पना, अन्य स्थलों से उनका समर्थन न होना आदि अनेक बातें एक इतिहासज्ञ को उनकी सत्यता में विश्वास न करने के लिये प्रेरित करती हैं। इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक आचार्य हो गये हैं। इन सब उलझनों के मध्य में से प्रकृत समस्या को सुलझाना और ऐतिहासिक तथ्य तक पहुँच जाना कितना दुष्कर है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। तथापि प्रयत्न करना मनुष्य का कर्तव्य है यह विचार कर हम इस कार्य में प्रवृत्त होते हैं

अकलंक नाम के अन्य विद्वान्

नामसाम्य होने के कारण बहुत से महातुभाव समाननामा विभिन्न ग्रन्थकारों की कृतियों को एक ही की कृति समझ बैठते हैं। तथा कुछ ग्रन्थकार भी अपने नाम का लाभ उठाकर अपने नामराशि किसी प्रसिद्ध विद्वान् के नाम पर अपने ग्रन्थों का नाम रखकर वैसा करने का प्रयत्न करते हैं, अतः प्रसिद्ध पुरुष की ख्याति को सुरक्षित रखने के लिये यह आवश्यक है कि पाठक उस नाम के अन्य विद्वानों से भी परिचित हों। हमारे चरितनायक अकलंकदेव के पश्चात् अकलंक नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं और उनमें से कुछ ने कुछ रचनाएँ भी की हैं। अब तक ऐसे जितने अकलङ्कों का पता लग सका है उनकी तालिका नीचे दी जाती है।

१ अकलंक त्रैविद्य—इनके गुरु देवकीर्ति थे। समय, विक्रम की १२ वीं शताब्दी। इनका उल्लेख श्रवणवेले० शिला० ४०० में मिलता है।

२ अकलंक पण्डित—श्रवण० शि० नं० ४२ में इनका उल्लेख है। यह शिलालेख ई० ११०० के लगभग का समझा जाता है।

३ अकलंक भट्टारक—यह जाति के पोरवाड़ थे। ये अकलंकसंहिता और श्रावकप्रायश्चित्त (ई० १३११ में रचित) के कर्ता थे।

४ अकलंक—परमागामसार के रचयिता।

५ अकलंक—विवेकमञ्जरीवृत्ति (ई० ११९२) के रचयिता।

६ भट्ट अकलंक—विद्यानुवाद नामक मंत्रशास्त्र के रचयिता।

१ प० जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा प्रेषित तालिका तथा मद्रास विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित 'नवीन सूचीपत्रों का सूचीपत्र' के आधार पर यह तालिका दी गई है।

७ अकलंकदेव—ई० १६०४ में इन्होंने कर्नाटक शब्दानुशासन की रचना की थी। ये दक्षिण कनाड़ा के हाडुवल्ली मठ के जैनाचार्य के शिष्य थे।

८ अकलंक कवि—व्रतफलवर्णन के कर्ता।

९ अकलंकदेव—चैत्यवन्दनाविसूत्र, साधुश्राद्धप्रतिक्रमण, पदपर्यायमञ्जरी के रचयिता।

१० अकलंक—विद्याविनोद के कर्ता, इन्होंने अकलंक भट्टारक, वीरसेन, पूज्यपाद और धमकीर्ति महासुनि का उल्लेख किया है।

११ अकलंक—अकलंकप्रतिष्ठापाठ के रचयिता, यह ग्रन्थ १६ वीं अथवा १७ वीं शताब्दी का बना है। संभव है इनमें से कोई कोई अकलंक एक ही व्यक्ति हों, किन्तु वर्तमान परिस्थिति में हम उनका ऐक्य प्रमाणित कर सकने में असमर्थ हैं। प्रसिद्ध आद्य अकलंक को कुछ ग्रन्थकारों ने केवल 'देव' शब्द से स्मरण किया है, जैसा कि आगे माह्य होगा। तथा 'भट्ट' संभवतः उनकी उपाधि थी, जो उस समय के प्रकाण्ड विद्वानों के नाम के साथ प्रयुक्त की जाती थी, जैसे भट्ट कुमारिल, भट्ट प्रभाकर आदि।

जन्मभूमि और पितृकुल

प्रभाचन्द्र के गद्य कथाकोश ब्रह्मचारी नेमिदत्त के कथाकोश और कन्नड़ी भाषा के 'राजा-वलीकथे' नामक ग्रन्थ में अकलंक की जीवनकथा मिलती है।

कथाकोश के अनुसार अकलंक की जन्मभूमि मान्यखेट थी और वहाँ के राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के वे पुत्र थे। किन्तु राजावलीकथे के अनुसार वे काञ्ची के जिनदास नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। अकलंक के तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के अन्त में एक श्लोक पाया जाता है। उसमें उन्हें लघुहव्व नृपति का पुत्र बतलाया है।

वह श्लोक निम्न प्रकार है

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।

अनवरतनिखिलजननुताविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥

यह श्लोक स्वयं ग्रन्थकार का बनाया हुआ तो नहीं जान पड़ता। यद्यपि इसकी शब्द-रचना राजवार्तिक की शब्दरचना से मेल खाती है और उसमें अकलङ्क के कवित्व की छाया भी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उनके अन्य किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख नहीं पाया जाता, तथा उक्त श्लोक ग्रन्थ के अन्त में न होकर उसके प्रथम परिच्छेद के अन्त में है, जब कि अन्य किसी भी परिच्छेद के अन्त में कोई श्लोक नहीं है। अतः श्लोक की स्थिति

१ दोनों कथाकोशों की कथाओं में कोई अन्तर नहीं है (देखो समन्तभद्र पृ० १०५ का नोट) नेमिदत्त ने प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश को ही पद्य में परिवर्तित किया है। जैसा कि वह स्वयं लिखते हैं—

देवेन्द्रचन्द्रार्कसमर्चितेन तेन प्रभाचन्द्रसुनीक्षरेण।

अनुग्रहार्थं रचितं सुवाक्यैराधनासारकथाप्रबन्धः ॥ ६ ॥

तेन क्रमेणैव मया स्वशक्त्या श्लोकैः प्रसिद्धैश्च निगद्यते सः।

मागेण किं भावुकरप्रकाशे। स्वलीकया गच्छति सर्वलोकः ॥ ७ ॥

नेमिदत्तकृत कथाकोश

उसकी वास्तविकता के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न करती है। तथापि कथाओं के साथ उसकी वास्तविकता की तुलना करने पर कथाओं की अपेक्षा उसे अग्रस्थान देना ही होगा।

अकलङ्क दक्षिणभारत के निवासी थे इसमें तो कोई सन्देह नहीं। कथाओं में दिये गये नगरों के नामों से भी इसका समर्थन होता है। लघुहव्व नाम दक्षिण भारत के अनुरूप है क्योंकि वहाँ इस प्रकार के नाम पाये जाते हैं यथा—चिक, नन्न आदि। किन्तु पुरुषोत्तम नाम उत्तरभारत की शैली को सूचित करता है। राजवलीकथे का जिनदास नाम ब्राह्मण का जैनत्व सिद्ध करने के लिये कल्पित किया गया प्रतीत होता है। और उसकी स्त्री का जिनमती नाम उसकी कल्पनिकता का रहस्य प्रकट कर देता है। अतः अकलङ्क न तो पुरुषोत्तम मंत्री के पुत्र थे और न जिनदास ब्राह्मण के, किन्तु वे राजपुत्र थे और उनके पिता का नाम लघुहव्व था।

कथाकोश का मान्यखेट नगर एक समय राष्ट्रकूटवंशी राजाओं की राजधानी था और राष्ट्रकूटवंशी राजाओं में से कृष्णराज प्रथम शुभतुंग नाम से प्रसिद्ध था तथा उसके भतीजे दन्तिदुर्ग का अपरनाम साहसतुङ्ग था। मल्लिषेणप्रशस्ति के एक श्लोक से प्रकट है कि अकलङ्क साहसतुङ्ग की सभा में गये थे। संभवतः इसी आधार पर कथाकोश के कर्ता ने उन्हें मान्यखेट का अधिवासी मान लिया है। किन्तु उस समय के इतिहास में मान्यखेट का कोई पता नहीं चलता। दन्तिदुर्ग के वंशज महाराज अमोघवर्ष ने शक सं० ७३७ (सन् ८१५) में अपनी राजधानी मान्यखेट में प्रतिष्ठित की थी। इसी समय से यह नगर इतिहास में प्रसिद्ध हुआ है। अतः कथाकोश का उल्लेख किसी भी तरह उचित प्रतीत नहीं होता।

राजावलीकथे का काञ्ची नामक नगर इतिहास में प्रसिद्ध है। यह द्रविणदेश की राजधानी था। प्राचीन काल से यह विद्या का केन्द्र रहा है। इसे दक्षिणभारत की काशी कहा जाता है। एक समय स्वामी समन्तभद्र ने यहाँ अपनी विजयदुन्दुभि बजाई थी। पल्लव-वंश के समय में यहाँ बौद्धधर्म का प्रचार बड़े जोरों पर था, क्योंकि पल्लवराजा बौद्धधर्म के अनुयायी थे। बौद्धमत के प्रख्यात नैयायिक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति काञ्ची के आसपास के ही निवासी थे और उन्होंने वहाँ पर बौद्धदर्शन का अध्ययन किया था। इन सब बातों पर दृष्टि डालते हुए हमारा अनुमान है कि अकलंक के पिता लघुहव्व द्रविणदेश के ही किसी ताल्लुक के स्वामी होंगे और अकलंक का जन्म काञ्ची के निकट किसी ऐसे प्रदेश में हुआ होगा जहाँ पल्लवराज तथा उनके धर्मानुयायियों के आतंक की चर्चा और प्रभाव हो। क्योंकि इस प्रकार के वातावरण में उत्पन्न होने से ही अकलङ्क के जीवन में वे सब बातें घट सकती हैं जिनका समर्थन न केवल कथाओं से किन्तु शिलालेखों और ग्रन्थकारों की श्रद्धाञ्जलियों से भी होता है।

बाल्यकाल और शिक्षा

जैनराजाओं या दानियों ने जैनधर्म की शिक्षा देने के लिये बौद्धों की तरह स्थान स्थान पर विद्यापीठ की स्थापना की हो, इतिहास में इस प्रकार का कोई सङ्केत नहीं मिलता। जैनों के आचार्य संसार से विरक्त साधु होते थे। वे ज्ञान और चारित्र के भण्डार होते थे। प्रायः नगरों के आसपास जंगलों में वे निवास करते थे। वे जैनों के धर्मगुरु होने के साथ ही साथ

१ देखो, 'महाकवि पुष्पदन्त के समय पर विचार' शीर्षक प्रो० हीरालाल का लेख। जै० सा० संशो०, खंड २, अङ्क ३, पृ० १४७।

विद्यागुरु भी होते थे। जो विद्याप्रेमी भाई अपनी सन्तान को शिक्षित बनाने का इच्छुक होता था वह अपनी सन्तान को इन वनवासी गुरुओं के सुपुर्द कर देता था। तपस्वी गुरुओं का सहवास और वन का प्रशान्त वातावरण उनमें से अनेक छात्रों को त्यागमार्ग का अनुगामी बना देता था और वयस्क होने पर यदि वे योग्य प्रमाणित हुए तो दीक्षा लेकर गुरु के पट्ट को सुशोभित करते थे। जैनवाङ्मय के भण्डार को अपनी अमूल्य कृतियों से समृद्ध करनेवाले सभी शास्त्रकार प्रायः संन्यास-पथ के पथिक थे और उनके गुरु भी उसी मार्ग के नेता थे।

अकलङ्क की धार्मिकशिक्षा भी इसी परिपाटी के अनुसार हुई प्रतीत होती है। कथाकोश में लिखा है “एक बार अष्टाद्विका पर्व के अवसर पर अकलङ्क के माता पिता उन्हें जैन मुनि-राज के निकट ले गये। साथ में उनके लघुभ्राता निकलङ्क भी थे। धर्मोपदेश श्रवण करने के बाद पति-पत्नी ने आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया और कौतुकवश पुत्रों को भी ब्रह्मचर्यव्रत दिला दिया। जब दोनों भाई वयस्क हुए और पिता ने विवाह रचाने का उपक्रम किया तो दोनों भाइयों ने मुनिराज के सन्मुख दिखाई गई प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर विवाह करने से साफ इन्कार कर दिया। पिता ने बहुतेरा समझाया कि वह प्रतिज्ञा तो केवल आठ दिन के लिये दिखाई गई थी, किन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि प्रतिज्ञा दिलाते समय हमसे समय की मर्यादा की कोई चर्चा नहीं की गई थी। सारांश यह है कि उन्होंने विवाह नहीं किया और घर-बार का कामकाज छोड़कर विद्याभ्यास में चित्त लगाया।”

राजावलीकथे तथा दूसरी कई कथाओं के आधार से, जिनसे हम अपरिचित हैं, राइस सा० ने अकलङ्कदेव का जीवनवृत्तान्त लिखा है। वे लिखते हैं—“जिस समय काश्मी में बौद्धों ने जैनधर्म की प्रगति को रोक दिया था उस समय जिनदास नामक जैन ब्राह्मण के यहाँ उसकी स्त्री जिनमती से अकलङ्क और निकलङ्क नाम के दो पुत्र थे। वहाँ पर उनके सम्प्रदाय का कोई पढ़ानेवाला नहीं था इसलिये इन दोनों बालकों ने गुप्तरीति से भगवद्दास नाम के बौद्ध-गुरु से—जिसके मठ में पाँच सौ शिष्य थे—पढ़ना शुरू किया।”

अकलङ्क के ‘जन्मस्थान और पितृकुल’ को बतलाते हुए हम इन कथाओं की यथार्थता के सम्बन्ध में उद्घापोह कर आये हैं और आगे भी करेंगे। किन्तु कथाकोशकार ने अकलङ्क के बाल्यजीवन की घटना का जो चित्रण किया है अर्थात् पिता के साथ मुनिराज के पास जाना, वहाँ ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना और विवाह का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर बाल्यकाल में लिये गये व्रत का स्मरण दिलाकर आजन्म ब्रह्मचारी रहने का संकल्प प्रकट करना तथा विद्याभ्यास में चित्त लगाना, वह सब इतना स्वाभाविक और सत्य प्रतीत होता है कि अकलङ्क के जीवन के साथ उसका सम्बन्ध अस्वीकार करने पर भी कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि अकलङ्कसदृश दृढ़ अध्यवसायी, प्रकाण्डपण्डित और कर्मठ व्यक्ति के जीवन में इस प्रकार की घटना नहीं घट सकती। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो व्यक्ति महापुरुष हुए उनके जीवन में कोई न कोई ऐसी घटना अवश्य घटी जिसने उन्हें महापुरुष के पद पर पहुँचा दिया। जैन श्रावक, राजा हो या रंक, नगर के निकट मुनि के आने का समाचार सुनकर उनकी वन्दना किये बिना नहीं रह सकता। जैन कथानकों से स्पष्ट है कि नगर प्रान्त में किसी मुनि या संघ के पधारने का समाचार सुनकर श्रेणिक जैसे प्रभावशाली राजा न केवल स्वयं सपरिवार

मुनिवन्दना के लिये जाते थे किन्तु नगर में डुगी पीटकर इस सुसंवाद की घोषणा की जाती थी और सब नरनारी अपने अपने परिवार के साथ मुनिराज के पादमूल में धर्मोपदेश श्रवण करके यथाशक्ति व्रत नियमादि ग्रहण करते थे। अतः कथाकोश के पुरुषोत्तम मंत्री के स्थान में यदि लघु-हृव्व राजा अपने पुत्र अकलंक के साथ मुनि के पादमूल में गया हो और वहाँ अकलंक ने भी ब्रह्म-चर्यव्रत धारण किया हो तो कोई अचरज की बात नहीं है। प्रत्युत ऐसी घटना का न घटना ही अचरज की बात हो सकती है। क्योंकि राजपुत्र होकर विद्याव्यासङ्ग में लगना और राजोचित भोगविलास को त्यागकर जगह जगह शास्त्रार्थ करते फिरना किसी प्रेरकसामग्री के बिना संभव नहीं है। कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म के उत्कर्ष के कारण जैनधर्म के हास को देखकर उन्हें राजकाज छोड़कर इस मार्ग में प्रवृत्त होने की अन्तःप्रेरणा हुई थी। यह कहना हमारी कल्पना का फल होते हुए भी उतना ही सत्य है जितना अकलङ्कदेव का ऐतिहासिक व्यक्ति होना सत्य है। अन्तः प्रेरणा के बिना कोई भी व्यक्ति उस कठिन पथ का पथिक नहीं बन सकता, जिसे अकलङ्कदेव ने अपनाया था और न उसकी लेखनी में वह ओज ही आ सकता है जो अकलङ्क के साहित्य में हम पाते हैं। उनका साहित्य हमें बतलाता है कि जनता में फैलाये गये विपाक्त दुर्विचारों से वे कितने दुखी थे और इसे वे मूढ़ जनता का दुर्भाग्य समझते थे। अपने न्यायविनिश्चय नामक ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः

माहात्म्यात्तमसः स्वयं कालिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः ॥

न्यायोऽयं मलिनिकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते

सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥

अर्थात्—“कल्याण के इच्छुक अज्ञानों के पुरोपार्जित पाप के उदय से, गुणद्वेषी एकान्त-वादिनों ने न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है। करुणाबुद्धि से प्रेरित होकर हम उस मलिन किये गये न्याय को निर्मल करते हैं।”

किन्तु इस अन्तः प्रेरणा को साहाय्य देने के लिये किसी बाह्य प्रेरक की भी आवश्यकता है। कथाकोश के अनुसार विवाह का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर अकलङ्क आजन्म ब्रह्मचारी रहने का निश्चय करके विद्याभ्यास में चित्त लगाते हैं और समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके बौद्धधर्म पढ़ने के लिये विदेश जाते हैं। और राजावलीकथे के अनुसार काञ्ची में किसी जैन पाठक के न होने के कारण वे बौद्धगुरु के मठ में पढ़ना प्रारम्भ करते हैं। राजावलीकथे में मुनि के पास जाने आदि की कोई चर्चा नहीं है। और वहाँ उस सब की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। क्योंकि राजावलीकथे के अकलङ्क ब्राह्मणपुत्र हैं और ब्राह्मणपुत्र का मुख्य कार्य अध्ययन-अध्यापन होता ही है। अतः वे काञ्ची में जैनगुरु का प्रबन्ध न होने से बौद्धमठ में जा पहुँचते हैं। किन्तु राजपुत्र या मंत्रीपुत्र को अपना पैतृक व्यवसाय छोड़कर इस मार्ग में पैर रखने के लिये कोई बाह्य निमित्त मिलना ही चाहिए।

हमारा अनुमान है कि अकलङ्कदेव की आरम्भिक शिक्षा भी उसी पद्धति के अनुसार हुई थी जिसका उल्लेख हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में कर आये हैं, और यदि कथाकोश में वर्णित मुनि के पास जाने आदि की बात सत्य है तो संभव है वे ही मुनि उनके प्रारम्भिक गुरु हों और

उन्होंने अपने सुयोग्य शिष्य में जिनशासन का अभ्युदय कर सकने की क्षमता देखकर उसे इस ओर प्रेरित किया हो। अस्तु, जो कुछ हो। अकलङ्क एक राजपुत्र होते हुए भी बहुत बड़े तार्किक और वादी थे और उनका जीवन विद्याव्यासङ्ग में बीता था अतः उनकी शिक्षादीक्षा ऐसे वातावरण में हुई होगी जिसने उन्हें क्षत्रियोचित शस्त्रवीरता का मार्ग छुड़ाकर ब्राह्मणोचित शास्त्रवीरता के मार्ग का अनुगामी बनाया।

विद्यार्थीजीवन और संकट

अकलङ्क की जिन कथाओं का उल्लेख हम पहले कर आये हैं उन सबमें थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अकलङ्क का अपने लघुभ्राता निकलङ्क के साथ अपने को छिपाकर बौद्धमत में विद्याध्ययन करना, बौद्धगुरु की पुस्तक में जैनसिद्धान्त के किसी रहस्य या वाक्य को लिख देना, बौद्धगुरु को किसी जैनछात्र के छिपकर विद्याध्ययन करने का संदेह होना, छात्र को खोज निकालने के लिये कई उपायों का प्रयोग करना, अकलङ्क और निकलङ्क का पकड़े जाना, आत्मरक्षा के लिये रात्रि के समय कारागार से निकलकर भागना, अकलङ्क का प्राण बचाना किन्तु निकलङ्क का बौद्धसैनिकों के द्वारा बध किया जाना आदि बातों का वर्णन मिलता है।

कथाकोश में लिखा है—“मान्यखेट नगर में किसी बौद्धविद्वान् के न होने के कारण दोनों भाईयों ने बौद्धधर्म का अध्ययन करने के लिये विदेशयात्रा की और अज्ञ छात्र का रूप धरकर बौद्धाचार्य के पास अध्ययन करने लगे। जब गुरु अपने बौद्धशिष्यों को बौद्धशास्त्र पढ़ाते थे तो वे दोनों छिपकर सब सुनते रहते थे। एक दिन गुरुजी दिङ्नाग के किसी ग्रन्थ को पढ़ा रहे थे। दिङ्नाग ने अनेकान्त का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्ष में सप्तभंगी का निरूपण किया था। अशुद्ध होने के कारण बौद्धगुरु उसे समझ नहीं सके और पढ़ाना बन्द करके चले गये। अकलङ्कदेव ने पाठ शुद्ध कर दिया। पुनः पुस्तक खोलने पर गुरु ने शुद्ध पाठ लिखा देखा और अनुमान किया कि उनके मठ में जैनशास्त्रों का ज्ञाता कोई जैन बौद्धसाधु का वेश बनाकर अध्ययन करता है। उन्होंने खोज करना प्रारम्भ किया। एक दिन उन्होंने एक जैनमूर्ति मैगाकर सब शिष्यों को उसे लाँघने की आज्ञा दी। अकलङ्क तुरन्त ताड़ गये और मूर्ति पर एक भागा डालकर उसे तुरन्त उलँघ गये। इस उपाय में सफलता न मिलने पर आचार्य ने दूसरा उपाय खोज निकाला। एक दिन रात्रि के समय उन्होंने प्रत्येक छात्र की शय्या के पास एक एक मनुष्य को खड़ा कर दिया और ऊपर से वर्तनों का एक बोरा जमीन पर जोर से पटक दिया। भयङ्कर शब्द सुनकर सब छात्र जाग पड़े। पञ्चनमस्कारमंत्र का स्मरण करते हुए अकलङ्क निकलङ्क भी जागे और समीप में खड़े मनुष्यों के द्वारा पकड़ लिये गये।

दोनों भाई पकड़कर महल के सातवें खन पर रख दिये गये। अपने उद्देश्य को पूरा किये बिना संसार से विदा होने का समय निकट जान, छोटा भाई निकलङ्क बहुत दुःखी हुआ किन्तु अकलङ्क ने प्राणरक्षा का एक उपाय खोज निकाला। एक छाते की सहायता से, जो वहाँ पड़ा हुआ था, दोनों भाई महल से कूद पड़े और वहाँ से भाग दिये। आधीरात के समय मारने के लिये जब उनकी खोज की गई तो वे नहीं मिले। तब बहुत से सवार उनके पीछे दौड़ा दिये गये। निकलङ्क ने घोड़ों की टापों का शब्द सुनकर जान लिया कि उन्हें मारने के लिये चर आ रहे हैं। उसने अपने भाई से कहा कि आप पण्डित और चतुर व्यक्ति हैं, आपके जीवित रहने से जिनशासन का महान् उपकार होगा, अतः आप इस समीपवर्ती तालाब में

झिपकर अपने प्राण बचाओ। दूसरा उपाय न देखकर दुःखी अकलंक तालाब में झिप गये और निकलंक भाग दिये। एक धोबी कपड़े धो रहा था। उसने निकलंक को भागता देखा और पीछे की ओर उड़ती हुई धूल भी देखी। डरकर वह भी भाग खड़ा हुआ। सवारों ने उनके निकट पहुँच कर दोनों के सिर धड़ से जुड़ा कर दिये। सवारों के लौट जाने पर अकलंक तालाब से निकले और एक ओर को चल दिये।

भगवद्दास के मठ में दोनों भाईयों के प्रविष्ट होने के बाद उक्त घटना के सम्बन्ध में राइस सा० लिखते हैं—

“एक कथाकार कहता है कि उन्होंने ऐसी असाधारण शीघ्रता के साथ उन्नति की कि गुरु को सन्देह हो गया और उसने यह जानने का निश्चय किया कि वे कौन हैं। अतः एक रात्रि को जब वे सोते थे उस बौद्धगुरु ने बुद्ध का दाँत उनकी छाती पर रख दिया। इससे वे बालक जिनसिद्ध कहते हुए एक दम उठ खड़े हुए और इससे गुरु को मालूम हो गया कि वे जैन हैं। दूसरी कथा के आधार पर, उन बालकों ने एक दिन—जब कि गुरु कुछ मिनिट के लिये उनसे अलग हुआ था—एक हस्तलिखित पुस्तक में ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि बोद्ध-मार्गः’ लिख दिया और इस बात की छानबीन करने पर गुरु को मालूम हो गया कि वे जैन हैं। दोनों कथाओं में चौाहे जो सच्ची हो आखिर नतीजा यह निकला कि उनके मारने का निश्चय किया गया और वे दोनों भाग निकले। निकलंक ने अपना पकड़ा जाना और मारा जाना स्वीकार किया ताकि उसके भाई को पीछा करनेवालों से बचने का अवसर मिल जाये। अकलंक ने एक धोबी की सहायता से, जिसने उसको अपने कपड़ों की गठरी में झिपा लिया, अपने को बचा लिया और दोष्ठा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्यपद शोभित किया।”

इस अंश से अकलंक की कथाओं में रोचकता अवश्य आजाती है और इसलिये कथा-साहित्य में उन्हें अच्छा स्थान भी मिल सकता है, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर अकलङ्क ने राजपाट छोड़ा और गृहस्थाश्रम से मुँह मोड़ा उसकी सिद्धि के लिये उनका बौद्धदर्शन का विद्वान् होना आवश्यक था और बौद्धदर्शन का विद्वान् होने के लिये किसी बौद्धाचार्य को गुरु बनाना भी आवश्यक था, क्योंकि एक तो किसी धर्म का जो रहस्य उसके अनुयायी विद्वान् के द्वारा प्राप्त हो सकता है वह दूसरे के द्वारा मिलना अशक्य है। दूसरे, इतिहास से पता चलता है कि उस समय जैनों में कोई अच्छे विद्वान् आचार्य भी नहीं थे। अतः बौद्धदर्शन का अध्ययन करने के लिये अकलङ्क का बौद्धमठ में प्रविष्ट होना बहुत अंशों में संभव है और इसके लिये उन्हें अपना असली रूप झिपाना भी पड़ा होगा। क्योंकि जब बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक उत्तरभारत की काशी-पुरी में जैनविद्यार्थियों को अपना रूप झिपकर विद्याभ्यास करना पड़ा है, तब सातवीं शताब्दी में दक्षिण भारत की काशी काश्मीपुरी में, बौद्धधर्म के पालक पल्लवराज्य की छत्रछाया में, यदि अकलङ्क को बौद्ध बनकर विद्याभ्यास करना पड़ा हो तो अचरज ही क्या है? और ऐसी दशा में रहस्य खुल जाने पर संकट भी आसकता है। किन्तु रहस्य खुल जाने के जो कारण दिये गये हैं वे कुछ जँचते नहीं। झिपकर विद्याभ्यास करनेवाला व्यक्ति इस तरह बैठे बिठाये संकट मोल नहीं ले सकता। तथा रहस्य का उद्घाटन और छद्मवेषियों की गिरफ्तारी हो जाने के बाद उनके साथ बौद्धधर्म के उपासकों का जो क्रूर व्यवहार बतलाया गया है वह

बीसवीं शताब्दी के व्यक्तियों को धार्मिक द्वेष के रंग में रंगा हुआ जान पड़ता है। यद्यपि धर्मोन्माद सब कुछ करा सकता है और राजनैतिक इतिहास की तरह कुछ धर्मों का इतिहास भी रक्तपात और नृशंस हत्याओं से रक्षित है। तथा दक्षिण में सुन्दरपाण्ड्य नाम के राजा ने जैनधर्म को छोड़कर शैवधर्म स्वीकार करने के बाद ८००० जैनों को शूली पर चढ़ा कर मार डाला था। फिर भी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में उसे सत्य नहीं माना जा सकता। और यदि स्वीकार भी कर लिया जाये तो अकलङ्क के एक छोटे भाई निकलंक की समस्या आड़े आ जाती है।

निकलङ्क ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है।

किसी भी शिलालेख या ग्रन्थ में निकलंक नाम के व्यक्ति का उल्लेख नहीं पाया जाता। दूसरों का तो कहना ही क्या, स्वयं अकलङ्क तक उसके सम्बन्ध में मूक हैं। जरा सोचिये तो सही, छोटा भाई बड़े भाई के प्राण बचाने के लिये सिर कटवावे और इस प्रकार जीवन के महान् उद्देश्य जिनशासन के प्रचार और प्रसार में सहायक हो और बड़ा भाई उसके इस महान् त्याग की स्मृति में उसका नाम तक भी न ले, क्या यह संभव है? हम हैरान हैं कि कथाकार ने किस आधार पर अकलङ्क के साथ एक निकलङ्क की कल्पना कर डाली।

विगम्बर कथाकोशों के अकलङ्क की तरह श्वेताम्बर कथासाहित्य में हंस परमहंस की कथा वर्णित है। पहले में कम से कम इतनी तो ऐतिहासिकता है कि उसका मुख्य पात्र एक ऐति-

१ यह कथा चन्द्रप्रभसूरि के प्रभावक चरित में वर्णित है। यह ग्रन्थ वि० सं० १३३४ का बना हुआ है। श्री राजशेखर सूरि का बनाया हुआ एक चतुर्विंशतिप्रबन्ध नामक संस्कृत ग्रन्थ भी है। वह वि० सं० १४०५ का बनाया हुआ है। उसमें भी हंस परमहंस की कथा लिखी हुई है। उसका सार यह है—हरिमद्रसूरि हंस परमहंस नामक अपने भानेजों को पढ़ाते थे। पण्डित होने पर, वे गुरु के मना करने पर भी बौद्धों से पढ़ने के लिये चले गये। एक बृद्धा के घर ठहरे और बौद्धवेश धारण करके पढ़ने लगे। वे कपलिका पर रहस्य लिख लेते थे। उनके प्रतिलेखन आदि क्रियाओं से गुरु ने उन्हें श्वेताम्बर समझा। दूसरे दिन सीढ़ियों पर खरिया मिट्टी से जिनविम्ब की आकृति बना दी गई। हंस परमहंस ने उस पर यज्ञोपवीत का चिन्ह बना दिया, और इस प्रकार उसे बुद्धमूर्ति मानकर उलंच गये और गुरु के पास पहुँचे। गुरु के मुख का भाव बदला हुआ देखकर, और वह सब प्रपञ्च गुरु का ही रचा हुआ जानकर, पेट की पीड़ा का बहाना करके वे अपने निवासस्थान को चले गये और कई दिनों तक पढ़ने नहीं आये। बौद्धगुरु ने राजा से शिकायत की और कपलिका मगाने के लिये आग्रह किया। सेना भेजी गई किन्तु हंस परमहंस ने उसे मार भगाया। पुनः बहुत सी सेना भेजी गई। तब एक भाई ने सेना से दृष्टि बुद्ध किया और दूसरा परमहंस कपलिका लेकर भाग गया। हंस मारा गया और उसका सिर राजा के आगे उपस्थित किया गया। राजा ने गुरु को दिखाया। गुरु ने कपलिका लाने की आज्ञा दी। सैनिक पुनः गये और रात्रि में चित्रकूट नगर के द्वार पर सोते हुए परमहंस का सिर काटकर ले गये। हरिमद्रसूरि ने सुबह को उठकर अपने प्रिय शिष्य का रुंड देखा, बड़े क्रोधित हुए। तप्त तैल की कढ़ाई में १४४० बौद्धों को होम देने का विचार किया। गुरु ने वृत्तान्त जानकर साधुओं के हाथ गाथाएँ भेजीं आदि। इस कथानक में शास्त्रार्थ तथा धोबीवाली घटना नहीं आई है। मुनि पुण्यविजयजी से ज्ञात हुआ है कि प्रभावकचरित से पहले के किसी ग्रन्थ में हंस परमहंस की कथा नहीं मिलती। भद्रेश्वरसूरि का बनाया हुआ प्राकृतभाषा का एक कथावली नामक ग्रन्थ है। मुनि जिनविजयजी इसका १२ वीं शताब्दी की रचना अनुमान करते हैं। इसमें भी सिद्धसेन दिवाकर के बाद हरिमद्रसूरि का एक कथानक दिया है। मुनि पुण्यविजयजी ने कृपा करके इस कथा की प्रेसकापी हमारे देखने के लिये भेज दी थी। कापी में स्थान स्थान पर पाठ छूटे हुए हैं। कथा का आशय निम्नप्रकार है—

हासिक व्यक्ति है और उसके सम्बन्ध की कुछ बातों का समर्थन शिलालेखों और विभिन्न ग्रन्थ-कारों के उल्लेखों से होता है, किन्तु दूसरे के तो पात्र भी ऐतिहासिक व्यक्ति प्रमाणित नहीं होते

“हरिभद्र ब्राह्मणपुत्र थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं जिसका कथन नहीं समझ सकूँगा उसका शिष्य हो जाऊँगा। एक समय हरिभद्र चित्तौर आये। वहाँ जिनदत्ताचार्य के संघ में याकिनी नामकी एक साध्वी रहती थी। एक दिन हरिभद्र ने याकिनी के मुख से ‘चक्रिदुर्गं हरिपणगं’ इत्यादि गाथा सुनी, किन्तु उसका अर्थ न समझ सके। हरिभद्र ने साध्वी से गाथा का अर्थ पूछा तो साध्वी उन्हें गुरु के पास ले गई। गुरु जिनदत्ताचार्य ने गाथा का अर्थ समझाया। हरिभद्र ने अपनी प्रतिज्ञा की बात कही। आचार्य ने साध्वी का धर्मपुत्र हो जाने के लिये कहा। हरिभद्र ने धर्म का फल पूछा। आचार्य ने कहा कि सकामश्रुतिवालों के लिये स्वर्गप्राप्ति और निष्कामकर्मवालों के लिये भवविरह (संसार का अन्त) धर्म का फल है। हरिभद्र ने भवविरह की इच्छा प्रकट की और जिनदत्ताचार्य ने उन्हें जिनदीक्षा दे दी। हरिभद्र के जिनभद्र और वीरभद्र नामके दो शिष्य थे। उस समय चित्तौड़ में बौद्धमत का प्राबल्य था और बौद्ध हरिभद्रसे ईर्ष्या करते थे। एकदिन बौद्धों ने हरिभद्र के दोनों शिष्यों को एकान्त में मार डाला। यह सुनकर हरिभद्र को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने अनशन करने का निश्चय किया। प्रभावक पुरुषों ने उन्हें ऐसा करने से रोक कर और हरिभद्र ने ग्रन्थराशि को ही अपना पुत्र मान उसकी रचना में चित्त लगाया। ग्रन्थनिर्माण और लेखन-कार्य में जिनभद्र वीरभद्र के काका लल्लिक ने बहुत सहायता की। हरिभद्र जब भोजन करते थे लल्लिक शङ्ख बजाता था। उसे सुनकर बहुत से याचक एकत्र हो जाते थे। हरिभद्र उन्हें ‘भवविरह करने में प्रयत्न करो’ कहकर आजीर्ण देते थे। इससे हरिभद्रसूरि भवविरहसूरि के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे”। प्रभावकचरित के वर्णन की अपेक्षा कथावली का लेख प्रामाणिक जँचता है और भवविरह शब्द की जो उपपत्ति कथावली में दी गई है वह हृदय को लगती है। हंस परमहंस नामकी अपेक्षा जिनभद्र वीरभद्र नाम भी वास्तविक जँचते हैं। प्रभावकचरित के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में मुनि कल्याणविजयजी लिखते हैं—“अमर। विचार प्रमाणे कथावलीनु प्राचीन लक्षण जे प्रामाणिक लागे छे, कारण के हंस अने परमहंस जेवां नामो जैन श्रमणीमां प्रचलित न होवा थी, ऐ नामो या तो कल्पित होवां जेइये अने नहि तो उपनाम होई शके, पण आवां मूल नामों होवां संभवतां नथी। ऐ सिवाय बीजु पण कथावलीमां लेखली हकीकत वास्तविक जणाय छे, प्रबन्धमां केटलाक बनावो अतिशयोक्तिपूर्ण अने कल्पित जेवा लागे छे।”

जिन दिगम्बर कथाकोशों में अकलङ्क की कथा वर्णित है उनमें से नेमिदत्त का कथाकोश प्रभावचन्द्र के गद्यकथाकोश का ही पथों में रूपान्तर है। वि० सं० १५७५ के लगभग नेमिदत्त के अस्तित्व का पता लगाया गया है। गद्यकथाकोश के बारे में प्रेमीजी का अनुमान है कि यह गद्यकथाकोश बहुत करके उन्हीं प्रभावचन्द्र का बनाया हुआ है जिनके पद पर पद्मनन्दि भट्टरक सं० १३८५ में बैठे थे। अर्थात् वे उसे वि० की चौदहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं। रत्नकरंडश्रावकाचार की प्रभावचन्द्रकृत संस्कृतटीका में, जो इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुई है, कुछ कथाएँ मिलती हैं। हमने उक्त टीका में दत्त सम्यक्सव के आठ अंशों की कथाओं का गद्यकथाकोश की कथाओं से मिलान किया तो उनमें अक्षरशः एक्य पाया। क्वचित् क्वचित् टीका में पाठ छूट गया है जो कथाकोश से पूर्ण हो जाता है। एक दो जगह साधारणसा शब्दभेद भी प्रतीत हुआ किन्तु वह प्रतिभेद का ही परिणाम जान पड़ा। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने उक्त टीका का रचना-काल वि० सं० १३०० के लगभग अन्दाजा है। अतः यदि रत्नकरंड की टीका में दत्त उक्त कथाएँ गद्य-कथाकोश से ली गई हों या दोनों का कर्ता एक हो तो कथाकोश वि० की १३ वीं शताब्दी के बाद की रचना नहीं हो सकता। हमारा अनुमान है कि अकलङ्क के भाई निकलङ्क और उसकी मृत्यु आदि की कल्पना श्रोताम्बरग्रन्थ कथावली वगैरह के प्रभाव का फल है और प्रभावकचरित में वर्णित हंस परमहंस की कथा पर गद्यकथाकोश में वर्णित अकलङ्क की कथा का प्रभाव है क्योंकि हंस परमहंस की कथा में शास्त्रार्थ तथा धोबी वगैरह की घटना कथाकार की जोड़ी हुई सी प्रतीत होती है।

और उसके चित्रण में भी कल्पना से पहले की अपेक्षा अधिक काम लिया गया प्रतीत होता है। तथा ऐसा जान पड़ता है कि पहले की कथा का दूसरे पर प्रभाव है। कथा इस प्रकार है—

हंस परमहंस की कथा

हरिभद्र सुरि के हंस और परमहंस नामके दो शिष्य थे। पिता के कर्कश वचनों से विरक्त होकर दोनों ने दीक्षा लेली थी। न्याय, व्याकरण आदि का अध्ययन कर चुकने के बाद उनकी इच्छा हुई कि हम बौद्धदर्शन का भी अध्ययन करें। उन्होंने बौद्धों के नगर में जाकर बौद्धदर्शन का अध्ययन करने की इच्छा गुरु पर प्रकट की। निमित्तज्ञानी गुरु ने भावी को जानकर उन्हें बैसा करने से रोका और स्वदेश में ही किसी गुणी यति से बौद्धशास्त्र पढ़ने की सम्मति दी। किन्तु भावी बलवान है। दोनों भाइयों ने सुगतपुर अर्थात् बौद्धों की नगरी को प्रस्थान किया और वहाँ पहुँच कर एक बौद्धमठ में पढ़ने लगे। उन्होंने एक पत्र पर जिनमत की युक्तियों के खण्डन का प्रतिखण्डन और दूसरे पर सुगतमत के दूषण लिख रखे थे। दैवयोग से एक दिन वे पत्र हवा में उड़ गये और किसी तरह बौद्धगुरु की दृष्टि में जा पड़े। उन्हें देखकर गुरु को किसी जैन छात्र के होने का सन्देह हुआ। परीक्षा के लिये उसने मार्ग में जिन-बिम्ब का चित्र बनवा दिया और सब छात्रों को उस पर पैर रखकर आने की आज्ञा दी। प्राणों पर संकट जानकर दोनों भाइयों ने खड़िया मिट्टी से प्रतिमा के हृदय पर यज्ञोपवीत का चिन्ह बना दिया और तब उसे बुद्धप्रतिमा मानकर वे श्रद्धा लॉघ गये। तब दूसरी परीक्षा का समय आया और रात्रि में ऊपर से बर्तन डालकर चौंका देनेवाला शब्द किया गया। सब विद्यार्थी जाग पड़े और अपने अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। हंस परमहंस ने भी जिनदेव का स्मरण किया और पहरे पर नियुक्त चरों ने उसे सुन लिया और वे पकड़ लिये गये तथा महल की छत पर रखे गये। सूर्य के भय से दोनों भाई छातों की सहायता से पृथ्वी पर आये और भाग दिये। उन्हें पकड़ने के लिये सवार दौड़ाये गये। सवारों को निकट आया जान हंस ने अपने छोटे भाई को तो सूरपाल राजा की शरण में भेज दिया और आप लड़कर मारा गया।

सवार राजा के पास गये और उससे अपना अपराधी मांगा। किन्तु राजा ने देने से साफ़ इन्कार कर दिया और शास्त्रार्थ का प्रस्ताव रखा। अधिपति ने प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया। किन्तु यह कह कर कि बुद्ध के मस्तक पर पैर रखनेवाले व्यक्ति का मुख हम नहीं देख सकते, हंस का मुख देखने से इन्कार कर दिया।

बौद्धों ने घट में अपनी देवी का आह्वान किया और उससे हंस का शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ बहुत दिनों तक चला। अन्त में जिनशासनदेवी के द्वारा बतलाये गये उपाय से काम लिया गया। हंस ने विजय पाई और पर्दा खींच कर घड़े को पैर से फोड़ डाला।

हंस ने विजय तो पाई किन्तु उसकी विपत्ति का अन्त नहीं हुआ। पराजित बौद्ध और भी कुपित होगये। अस्तु, किसी तरह उनसे आंख बचाकर वह सूरपाल से विदा हुआ। रास्ते में उसने एक धोबी देखा और सवारों को समीप आया जानकर उससे कहा—'भागो सैना आरही

१ इस कथा के रचनाकाल में, श्वेताम्बरसंप्रदाय में, जिनबिम्ब का श्रद्धा करने की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। संभवतः इसी से अकलङ्क की कथा में वर्णित, मूर्ति पर धागा डालकर उसे लांघने की घटना के स्थान में यज्ञोपवीत बनाकर उसे लांघने की कल्पना की गई है।

है।^१ बेचारा धोबी कपड़े धोना छोड़कर भाग खड़ा हुआ और परमहंस ने उसका स्थान ले लिया। सवारों के निकट आने पर और उस से उस मार्ग से जाने वाले एक मनुष्य का पता पूछने पर परमहंस ने भागते हुए धोबी की ओर संकेत कर दिया और इस प्रकार अपनी जान बचाकर गुरु के पास पहुंचा। और सब हाल सुनाते हुए तीव्र शोक के वेग से उसकी छाती फट गई और वह मर गया।

हरिभद्र सूरि को अपने प्रिय शिष्यों की मृत्यु से बहुत खेद हुआ और उसका बदला लेने के लिये उन्होंने बहुत से बौद्ध पंडितों को शास्त्रार्थ में हराया और शर्त के अनुसार उन बौद्धों को तप्त तैल में डाल दिया।

किसी किसी का कहना है कि बौद्धों पर क्रुद्ध होकर उन्होंने आकर्षिणीविद्या के द्वारा उन्हें तप्त तैल में झोंक दिया। जब उनके गुरु को इस समाचार की सूचना मिली तो उन्होंने उनके पास क्रोध की शान्ति के लिये कुछ गाथा लिखकर भेजी, जिससे वे शान्त हुए। हरिभद्र के प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में 'विरह' शब्द आता है जो उनके प्रियशिष्यों के वियोग का चिह्न है।^२

इस कथा को पढ़कर पाठक कथाओं के ऐतिहासिक मूल्य का अनुमान लगा सकेंगे। अतः अकलङ्क की कथा के आधार पर निकलङ्क को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना जा सकता। किन्तु तत्कालीन परिस्थिति, बौद्धों से मुठभेड़ और अकलङ्क के साहित्य में विशेषतया बौद्ध-वाद का खण्डन देखकर अकलङ्क के बौद्धमत में अध्ययन करने की किंवदन्ती सत्य प्रतीत होती है। विलसन साहब की 'मैकेंजी कलेक्शन' नामक पुस्तक के आधार पर राईस साहब ने लिखा है कि पोतनग के बौद्धविद्यालय में अकलङ्कदेव ने शिक्षा पाई थी।

शास्त्रार्थ अकलंक

बौद्धविद्यालय में अध्ययन कर चुकने के बाद गृहत्यागी अकलङ्क के सामने जीवन के महान् उद्देश्य को पूरा करने की समस्या उपस्थित हुई। उस समय विद्वत्समाज में शास्त्रार्थ करने का बहुत प्रचार था और राजा तथा प्रजा दोनों ही उसमें क्रियात्मक भाग लेते थे। इन शास्त्रार्थों का फल केवल जय और पराजय ही नहीं होता था किन्तु धर्मप्रचार का यह एक मुख्य साधन समझा जाता था। ये शास्त्रार्थ बहुत करके राजसभाओं में होते थे और राजन्यवर्ग उनमें मध्यस्थ रहता था। यदि राजा बुद्धिमान शास्त्रज्ञ और विवेकी होता था तो विजयी पक्ष से प्रभावित होकर उसका धर्म स्वीकार कर लेता था और 'यथा राजा तथा प्रजा' की नीति का प्राधान्य होने के कारण प्रजा भी उसका अनुसरण करती थी। फलतः शास्त्रार्थ के द्वारा राज्य का राज्य स्वधर्मी बनाया जा सकता था। इसी लिये उस समय के वादी विद्वान् राजाओं की तरह दिग्विजय करने के लिये निकलते थे और मुख्य २ राजसभाओं में जाकर स्वामी समन्तभद्र की तरह ललकार कर कहते थे—

“राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी”

चीनी यात्री फाहियान और ह्यूनत्सांग ने अपने अपने यात्राविवरण में कई शास्त्रार्थों का उल्लेख किया है। ह्यूनत्सांग सातवीं शताब्दी के मध्य में भारत आया था और बहुत समय तक नालन्दा के बौद्धविद्यापीठ में रहा था। एक बार वह भी एक शास्त्रार्थ करने के लिये गया था। नालन्दा विश्वविद्यालय का वर्णन करते हुए वह लिखता है—“सबरे से शाम तक

लोग वाद-विवाद में व्यस्त रहते हैं। वृद्ध हो अथवा युवा, शास्त्रार्थ के समय सब मिल जुलकर एक दूसरे की सहायता करते हैं। '.....' अन्य नगरों के विद्वान् लोग, जिनको शास्त्रार्थ में शीघ्र प्रसिद्ध होने की इच्छा होती है, बूँड के बूँड यहाँ आकर अपने संदेहों का निवारण करते हैं। '.....' अगर दूसरे प्रान्तों के लोग शास्त्रार्थ करने की इच्छा से इस संघाराम में प्रवेश करना चाहें तो द्वारपाल उनसे कुछ कठिन कठिन प्रश्न करता है जिनको सुनकर ही कितने ही तो असमर्थ और निरुत्तर होकर लौट जाते हैं। उन विद्यार्थियों को, जो यहाँ पर नवागत होते हैं और जिनको अपनी योग्यता का परिचय कठिन शास्त्रार्थ के द्वारा देना होता है, उत्तीर्ण संख्या दस में ७ या ८ होती है।^१

इस विवरण से अनुमान किया जा सकता है कि उस समय शास्त्रार्थों का कितना प्राबल्य था और उनमें भाग लेने के लिये किस श्रेणी की विद्वत्ता की आवश्यकता थी। अध्ययन समाप्त करने के बाद कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने पर अकलंकदेव को भी राजसभाओं में जाकर जिनशासन की विजयवैयजन्ती फहराने के सुअवसर मिले। स्वामी समन्तभद्र की तरह विभिन्न देशों को दिग्विजय करते हुए पर्यटन करने का उल्लेख तो उनके बारे में नहीं मिलता। किन्तु कुछ राजसभाओं में बौद्धों के साथ उनकी मुठभेड़ होने का वर्णन पाया जाता है। तथा कई शिलालेख और ग्रन्थकार उन्हें बौद्धों का विजेता कहते हैं।

कथाकोश में उनके एक शास्त्रार्थ का वर्णन इस प्रकार किया है—“कलिंगदेश में रत्नसंघ-पुर नामका नगर था। वहाँ हिमशीतल राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम मदन-सुन्दरी था। एक बार अष्टाह्निकापूर्व के अवसर पर रानी ने जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकालने का विचार किया। किन्तु बौद्धगुरु संघश्री ने राजा को बहकाकर रथयात्रा उत्सव बन्द करा दिया। और यह शर्त रखी गई कि यदि कोई जैन विद्वान् शास्त्रार्थ में बौद्धों को हरा सकेगा तो रथयात्रा का उत्सव मनाने दिया जायेगा। रानी ने कोई उपाय न देखकर, खाना-पीना त्याग कर जिन मन्दिर में ध्यान लगाया। आधी रात्रि के समय चक्रेश्वरी देवी का आसन डोला और उसने दिन निकलने पर अकलंकदेव के पधारने का सुसम्वाद सुनाया। अकलंकदेव आये और हिम-शीतल राजा की सभा में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। सभा के बीच में एक परदा पड़ा था और उसके अन्दर से संघश्री शास्त्रार्थ करता था। छह मास हो गये, किन्तु किसी की भी हार नहीं हुई। एक दिन रात्रि के समय अकलंक इसी उपेड़युन में पड़े हुए थे कि चक्रेश्वरी देवी ने खबर दी कि परदे की ओट से बौद्धों की इष्टदेवी तारा शास्त्रार्थ करती है। उसने उन्हें सम्मति दी कि कल को वे देवी से प्रकारान्तर से प्रश्न करें। अगले दिन अकलंक ने वैसा ही किया तो उत्तर न मिला। आगे बढ़कर उन्होंने पर्दा खींच लिया और घड़े को ठोकर से फोड़ डाला। जैनधर्म की खूब प्रभावना हुई और बड़े ठाठबाट से जिनेन्द्रदेव की सवारी निकली।”

राईस सा० के द्वारा सङ्कलित कथा में इस वाद के बारे में लिखा है—“अकलङ्कदेव ने दीक्षा लेकर सुयापुर के देशीयगण का आचार्यपद सुशोभित किया। इस समय अनेक मतों के विद्वान् आचार्य बौद्धों से वादविवाद में हार खाकर दुःखी हो रहे थे। उनमें से वीरशैव सम्प्रदाय के आचार्य सुयापुर में अकलङ्कदेव के पास आये और उनसे उन्होंने सब हाल कहा। इस

१ कलचुरि वंशीय राजा विजय ने वि० स० १२०० के लगभग वीरशैव सम्प्रदाय की स्थापना की थी। अतः अकलंक के समय में यह सम्प्रदाय नहीं हो सकता। यह कथालेख की सततदृष्ट है।

पर अकलङ्कदेव ने वहां जाने और बौद्धों पर विजय प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। अकलङ्क ने अपनी मयूरपिच्छिका को छुपाकर, जिससे वे जैनमती जाने जाते, बौद्धों को यह विश्वास दिलाने की योजना की कि वे शैव हैं और इस ढंग पर उनको वाद में जीतकर पीछे उन्हें अपनी मयूरपिच्छी दिखलादी। इस पर बौद्धलोग बहुत ही क्रुद्ध और उत्तेजित हुए। कांची के बौद्धों ने जैनियों का हमेशा के लिये अन्त कर डालने के अभिप्राय से अपने राजा हिमशीतल को इस बात के लिये उत्तेजित किया कि अकलङ्क को इस शर्त के साथ उनसे वाद करने के लिये बुलाया जाये कि जो कोई वाद में हार जाये उसके सम्प्रदाय के कुल मनुष्य कोल्हू में पिलवा दिये जायें। वाद हुआ। (वाद का वर्णन कथाकोश से विल्कुल मिलता है केवल इतना अन्तर है कि यहां चक्रेश्वरी देवी के स्थान में कुम्भाडिनी देवी ने अकलङ्कदेव को तारा की सूचना दी थी) और जैनों की विजय हुई। राजा ने बौद्धों को कोल्हू में पिलवा देने का हुक्म दे दिया। परन्तु अकलङ्क की प्रार्थना पर वे समस्त बौद्ध सीलों के एक नगर कैंडी को निर्वासित कर दिये गये।^१

हिमशीतल राजा की सभा में अकलङ्क के शास्त्रार्थ और तारा देवी की पराजय का उल्लेख श्रवणवेलगोला की मल्लिषेणप्रशस्ति में भी किया है। तथा उसमें राजा साहसतुंग की सभा में अकलङ्क के जाने और वहां आत्मश्लाघा करने का भी वर्णन है। प्रशस्ति के श्लोक इस प्रकार हैं—

“तारा येन विनिर्जिता घटकुटीगूढावतारा समं

बौद्धैर्या घृतपीठपीडितकुट्टदेवात्तसेवाञ्जलिः ।

प्रायश्चित्तमिवाग्निवारिजरजः स्नानञ्च यस्याचर—

दोषाणां सुगतः स कस्य विषयो देवाकलङ्कः कृती ॥

चूर्णिः । यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते—

राजन्साहसतुङ्ग सन्ति बहवः श्वेतातपत्राः नृपाः

किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोबता दुर्लभाः ।

तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो

नानाशास्त्रविचारचातुराधियः काले कलौ माद्विधाः ॥ १ ॥

राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध—

स्तद्वत्स्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पण्डितानाम् ।

नोचेदेशोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महान्तो

षकुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात् ॥ २ ॥

नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं

नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ।

राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो

बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगैतः पादेन विस्फोटितः ॥ ३ ॥”

१ यहाँ ‘सुगतः’ के स्थान में ‘स घटः’ पाठ सम्यक् प्रतीत होता है। क्योंकि ‘पादेन विस्फोटितः’ के साथ उसकी सङ्गति ठीक बैठती है और हिमशीतल की सभा की घटना—पैर से पड़े को फोड़ने—का भी भाव स्पष्ट हो जाता है। अन्यथा ‘सुगत को पैर से फोड़ दिया’ अर्थ अपहृत प्रतीत होता है।

अर्थात्—“जिसने गुप्तरूप से घट में अवतारित तारा देवी को बौद्धों के सहित परास्त किया, सिंहासन के भार से पीड़ित मिथ्यादृष्टि देवों ने जिसकी सेवा की। और मानों अपने दोषों का प्रायश्चित्त करने ही के लिये बौद्धों ने जिसके चरणकमल की रज में स्नान किया उस कृती अकलङ्क की प्रशंसा कौन कर सकता है? सुना जाता है कि उन्होंने अपने असाधारण निरवद्य पांडित्य का वर्णन इस प्रकार किया था—

राजन साहसतुङ्ग ! श्वेत छत्र के धारण करनेवाले राजा बहुत से हैं किन्तु आपके समान रणविजयी और दानी राजा दुर्लभ है। इसी तरह पण्डित तो बहुत से हैं किन्तु मेरे समान नानाशास्त्रों के जानने वाले कवि, वादी और वाग्मी इस कलिकाल में नहीं हैं।

राजन् ! जिस प्रकार समस्त शत्रुओं के अभिमान को नष्ट करने में तुम्हारा चातुर्य प्रसिद्ध है उसी प्रकार विद्वानों के मद को जड़मूल से उखाड़ फेंकने में मैं प्रथ्वी पर ख्यात हूँ। यदि ऐसा नहीं है तो आपकी सभा में बहुत से विद्वान् मौजूद हैं उसमें से यदि किसी की शक्ति हो और वह समस्तशास्त्रों का पारगामी हो तो मुझ से वाद करे।

राजा हिमशीतल की सभा में समस्त बौद्ध विद्वानों को जातकर मैने तारादेवी के घड़े को पैर से फोड़ दिया। सो किसी अहङ्कार या द्वेष की भावना से मैंने ऐसा नहीं किया, किन्तु नैरात्म्यवाद के प्रचार से जनता को नष्ट होते देखकर, करुणाबुद्धि से ही मुझे वैसा करना पड़ा।”

इस प्रशस्ति का ‘तारा येन विनिर्जिता’ आदि श्लोक तो प्रशस्तिकार का ही बनाया हुआ प्रतीत होता है किन्तु चूर्ण से स्पष्ट है कि शेष तीन पद्य पुरातन हैं और प्रशस्तिकार ने उन्हें जनश्रुति के आधार पर प्रशस्ति में सङ्कलित कर दिया है। इससे कथाओं में वर्णित अकलङ्क के शास्त्रार्थ की कथा शक सं० १०५० (प्रशस्तिरेखन का समय) से भी पहली प्रमाणित होती है।

श्रवणवेलगोला के एक अन्य शिलालेख में भी अकलङ्क का स्मरण इस प्रकार किया है—

“महाकलङ्कोऽकृत सौगतादिदुर्वाच्यपङ्क्तैस्सकलङ्कमृतम्।

जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलङ्कमेव ॥ ११ ॥”

विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख न० १०५

अर्थात्—“बौद्ध आदि दार्शनिकों के मिथ्या उपदेशरूपी पङ्क्त से सकलङ्क हुए जगत को मानों अपने नाम को सार्थक बनाने ही के लिये मझाकलङ्क ने अकलङ्क कर दिया।”

कुछ ग्रन्थकारों ने भी अकलङ्क को बौद्धविजेता लिखकर स्मरण किया है। महाकवि वादिराज सूरि अपने पार्श्वनाथचरित (श० सं० ९४८) में लिखते हैं—

“तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलङ्कधीः।

जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शान्त्यदस्त्ववः ॥”

“वे तार्किक अकलङ्कदेव जयवन्त हों, जिन्होंने जगत की वस्तुओं के अपहर्ता अर्थात् शून्यवादी बौद्धदृष्ट्युओं को दण्ड दिया।”

पाण्डवपुराण में तारादेवी के घड़े को पैर से ठुकराने का उल्लेख इस प्रकार किया है—

“अकलङ्कोऽकलङ्कः स कलौ कलयतु श्रुतम्।

पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता ॥”

“कलिकाल में वे कलङ्करहित अकलङ्क श्रुत को भूषित करें जिन्होंने घड़े में बैठी हुई मायादेवी—मायारूपधारिणी देवी को पैर से ठुकराया ।”

हनुमच्चरित में लिखा है—

“अकलङ्कगुरुजीयादकलंकपदेस्वरः

बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुदाहृतः ।”

“अकलङ्क पद के स्वामी वे अकलङ्क गुरु जयवन्त हों जो बौद्धों की बुद्धि की वैधव्य-दीक्षा के गुरु कहे जाते हैं अर्थात् जिन्होंने बौद्धों की बुद्धि को विधवा बना दिया ।”

अकलंक के बौद्धविजयसम्बन्धी उक्त उल्लेखों के अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसे उल्लेख पाये जाते हैं जो उन्हें प्रबल तार्किक और वादिशिरोमणि बतलाते हैं । यथा—

न्यावि० वि० के अन्त में बादिराज उन्हें ‘तार्किकलोकमस्तकमणि’ लिखते हैं । न्यायकुसुद-चन्द्र के तृतीय परिच्छेद के अन्त में आचार्य प्रभाचन्द्र उन्हें ‘इतरमतावलम्बीवादिरूपी गजेन्द्रों का दर्प नष्ट करनेवाला सिंह बतलाते हुए लिखते हैं—

“इत्थं समस्तमतवादिदरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्मलमानददग्रहारेः ।

स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिः पञ्चाननो भुवि जयत्यकलङ्कदेवः ॥”

अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघुसमन्तभद्र ‘सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरण-नखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवः’ लिखकर उनकी तार्किकता के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा प्रकट करते हैं । लघुयस्त्रय के वृत्तिकार अभयचन्द्र ने भी उन्हें इसी विशेषण से भूषित किया है । स्याद्वादरत्नाकर के रचयिता श्वेताम्बराचार्य देवसूरि ‘प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽकलङ्कः’ लिखकर उन्हें मतान्तरों के दोषों का उद्भावक बतलाते हैं । पञ्चप्रभमलधारिदेव उन्हें ‘तर्काब्जाक’—तर्करूपी कमल के विकास के लिये सूर्य बतलाते हैं । विद्वत्समाजमें अकलंकदेव की तार्किकता और सभाचातुर्य की इतनी ख्याति थी कि उत्तरकाल में विद्वानों में उन गुणों की गरिमा बतलाने के लिये उनके नाम को उपमा दी जाती थी । महाकवि वादिराज की प्रशंसा में कहा गया है कि वे सभा में अकलंकदेव के समान थे । तथा मेघचन्द्र की प्रशंसा करते हुए उन्हें ‘षड्दर्शनों में अकलंकदेव के समान निपुण’ बतलाया है ।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अकलंकदेव अपने समय के एक विशिष्ट विद्वान् और सभा-चतुरवादी थे तथा बौद्धों को परास्त करने की घटना ने एक विश्रुत जनरव का रूप धारण कर लिया था । अतः अकलङ्ककथा का शास्त्रार्थसम्बन्धी भाग कल्पित नहीं कहा जा सकता । किन्तु उसमें वर्णित बौद्धों का पर्दा डालना, पर्दे के भीतर से घड़े में बैठी हुई तारादेवी का शास्त्रार्थ करना, अकलंक का उसे न जीत सकता, चक्रेश्वरी का आना और तारा को बीच में दोककर प्रकारान्तर से प्रश्न करने की सम्मति देना आदि, कुछ बातें ऐसी हैं जो बीसवीं शताब्दी के पाठकों को बिल्कुल असङ्गत प्रतीत होती हैं । परन्तु इतिहास का परिशीलन करने से कथा

१ पृ० ११३७ । २ नियमसार की तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में । ३ सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्म-कीर्तिः वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः । इति समयगुरुणमेकतः सङ्गतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादि-राजः ॥ (vide ins no. 39. Nagar taluy by mr. Rice.)

४ “षड्दर्शनेष्वकलङ्कदेवविबुधः साक्षादयं भूतले ।” चन्द्रगिरि पर्वत का शिला० नं० ४७ (प्रो० हीरालाल)

में वर्णित कुछ बातों पर रोचक प्रकाश पड़ता है। ह्यूनत्सांग ने अपने यात्राविवरण में एक ऐसे ब्राह्मण की कथा का उल्लेख किया है जो पर्वों में बैठकर शास्त्रार्थ करता था और जिसे अश्वघोष बोधिसत्त्व ने उसी रीति से पराजित किया था जिस रीति से तारादेवी को पराजित करने की बात कथा में कही गई है। ह्यूनत्सांग लिखता है—“एक ब्राह्मण था जिसने मनुष्यों की पृथ्वी से बहुत दूर जंगल में एक स्थान पर एक कुटी बनाई थी और वहीं पर उसने सिद्धि लाभ करने के लिये राक्षसों का वलिप्रदान किया था। इस अन्त-रिक्षीय सहायता को प्राप्त करके वह बहुत बड़ चढ़ कर बातें मारने लगा और बड़े जोश में आकर विवाद करने लगा। उसकी इन वक्तृताओं का समाचार सारे संसार में फैल गया। कोई भी आदमी किसी प्रकार का प्रश्न उससे करे, वह एक परदे की ओट में बैठकर उसका उत्तर ठीक ठीक दे देता था। कोई भी व्यक्ति चाहे कैसा ही पुराना विद्वान और उच्च कोटि का बुद्धिमान हो, उसकी युक्तियों का खण्डन नहीं करपाता था। इसी समय अश्वघोषबोधिसत्त्व भी वर्तमान था वह उसकी कुटी पर गया और कहा—“मुझको आपके प्रसिद्ध गुणों पर बहुत दिनों से भक्ति है। मेरी प्रार्थना है कि जब तक मैं अपने दिल की बात न समाप्त कर दूँ आप परदे को खुला रखें।” परन्तु ब्राह्मण ने बड़े घमंड से परदे को गिरा दिया और उत्तर देने के लिये उसके भीतर बैठ गया और अन्ततक अपने प्रश्नकर्ता के सामने नहीं आया। अश्वघोष ने विचार किया जब तक इसकी सिद्धि इसके पास रहेगी, तब तक मेरी बुद्धि विगड़ी रहेगी। इस लिये उसने उस समय बातचीत करना बन्द कर दिया। परन्तु चलते समय उसने कहा—“मैंने इसकी करामात को जान लिया, यह अवश्य परास्त होगा।” वह सीधा राजा के पास चला गया और कहा—“यदि आप कृपा करके मुझको आज्ञा दें तो मैं उस विद्वान महात्मा से एक विषय पर बातचीत करूँ।” विवाद के समय अश्वघोष ने तीनों पिटक के गूढ़ शब्दों का और पञ्च महाविद्याओं के विशद सिद्धान्तों का आदि से अन्त तक अनेक प्रकार से वर्णन किया। इसी विषय को लेकर जिस समय ब्राह्मण अपना मत निरूपण कर रहा था उसी समय अश्वघोष ने बीच में टोक दिया—“तुम्हारे विषय का क्रमसूत्र खण्डित होगया, तुमको मेरी बातों का क्रमशः अनुसरण करना चाहिये।” अब तो ब्राह्मण का मुख बन्द होगया और वह कुछ न कह सका। अश्वघोष उसकी दशा को ताड़ गया उसने कहा—“क्यों नहीं मेरी शुद्धी को सुलझाते हो? अपनी सिद्धि को बुलाओ और जितना शीघ्र हो सके उससे शाब्दिक सहायता प्राप्त करो।” यह कहकर उसने ब्राह्मण की दशा को जानने के लिये परदे को उड़ाया। ब्राह्मण भयभीत होकर चिल्ला उठा, “परदा बन्द करो, परदा बन्द करो।” इस कथा से इस बात का पता लगता है कि उस समय के कोई कोई मनुष्य इस तरह की कोई सिद्धि प्राप्त कर लेते थे जो शास्त्रार्थ के अवसर पर उनकी सहायता करती थी। संभवतः ऐसी सिद्धियाँ तीक्ष्णदृष्टि मनुष्य के सामने अपना काम करने में असमर्थ होती थीं, इसी से बाजीगर की तरह पर्वों की ओट से उनका उपयोग किया जाता था और किसी प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर उनकी सहायता से तभी दिया जा सकता था जब कि वक्ता को बीच में टोका न जाये। टोकने पर उसका प्रवाह रुक जाता था और वह सब मूल जाता था। संभवतः अकलंकदेव को भी जिस बौद्ध विद्वान से शास्त्रार्थ करना पड़ा था उसे तारादेवी सिद्ध थी और

शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने की अभिलाषा से पदों की ओट में घट रखकर उसने उसका आह्वान किया था। किन्तु शास्त्रार्थ में वह स्वयं ही बोलता होगा, जैसा कि हम ह्यूनत्सांग के विवरण में पढ़ चुके हैं।

बौद्धसम्प्रदाय में तारादेवी का बड़ा सन्मान था और उसके तांत्रिक समाज की, जिसका एक समय भारत में बड़ा प्रभाव था, तारा अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थी। बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से प्रकाशित बौद्धस्तोत्रसंग्रह की प्रस्तावना में डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने ताराविषयक साहित्य का परिचय कराते हुए तिब्बतीय भाषा के ६२ तथा संस्कृत के ३४ ग्रन्थों की तालिका दी है। इससे पाठक सरलता से समझ सकते हैं कि बौद्धसम्प्रदाय में तारा की कितनी मान्यता थी। तारा का स्तवन करते हुए स्तवरास्तोत्र में लिखा है—

“विश्रान्तं श्रोतृपात्रे गुरुभिरुपहृतं यस्य नाम्नायमैक्ष्यं
विद्वद्गोष्ठीषु यश्च श्रुतधनविरहान्मूकतामभ्युपैति ।
सर्वालङ्कारभूषाविभवसमुदितं प्राप्य वागीश्वरत्वं
सोऽपि त्वङ्गाकिशक्या हरति नृपसमे वादिसिंहासनानि ॥ २० ॥”

अर्थात्—“जिसने कभी गुरु के मुख से एक वाक्य भी नहीं सुना और जो अज्ञानी होने के कारण विद्वानों की सभा में एक शब्द भी नहीं बोल सकता, तुम्हारी भक्ति के प्रभाव से वह मनुष्य चतुरवक्ता हो जाता है और राजसभा में वादिरूपी सिंहों के आसन को हर लेता है— उन्हें पराजित कर देता है।”

इससे पता चलता है कि तारा को बुद्धिक्वद्धिदायिनी भी माना जाता था और उसकी भक्ति से न केवल मूक वाचाल हो जाता था किन्तु राजसभा में जाकर वादियों को पराजित भी कर सकता था। अतः कथा में वर्णित शास्त्रार्थ की रीति उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुकूल मालूम होती है। इस प्रकार ह्यूनत्सांग के संसारप्रसिद्ध ब्राह्मण की तरह इन्द्रजालिया बौद्धगुरु को अपने बुद्धिकौशल से पराजित करके अकलङ्कदेव ने तत्कालीन जनसमाज में काफी ख्याति प्राप्त की होगी, इसी से उनकी इस विजय का उल्लेख जगह जगह पाया जाता है।

इस प्रसिद्ध शास्त्रार्थ के अतिरिक्त भी अकलङ्कदेव ने अन्य अनेकों शास्त्रार्थ किये, क्योंकि उनके जीवन का लक्ष्य केवल एक शास्त्रार्थ से पूरा होनेवाला न था और उस समय सर्वत्र विपक्षियों का इतना प्राधान्य था कि उनको पराजित किये बिना कुछ कर सकना अशक्य था।

ग्रन्थकार अकलङ्क

पिछले प्रकरण में अकलङ्कदेव के शास्त्रार्थीरूप का दिग्दर्शन कराते हुए शिलालेखों और ग्रन्थकारों के अनेक उल्लेखों के आधार पर हम उनकी वाक्पटुता और तार्किकता का थोड़ा सा परिचय करा आये हैं। किन्तु वह परिचय साक्षात् न होकर परम्परया है। उनकी अगाध विद्वत्ता, प्रौढ़लेखनी और गूढ़अभिसन्धि का साक्षात् परिचय प्राप्त करने के इच्छुक जन को उनकी साहित्यगंगोत्री में मज्जन करने का प्रयास करना होगा। उनके लघीयस्वयं प्रकरण का परिचय कराते समय हम उनकी शैली आदि के सम्बन्ध में कुछ बातें बतला आये हैं उनका लेख, गद्य हो या पद्य, सूत्र की तरह अति संक्षिप्त, गहन, और अर्थबहुल है। थोड़े से

शब्दों में बहुत कुछ कहजाना उनकी विशेषता है। उन्होंने अपने ग्रन्थों के भाष्य भी स्वयं लिखे हैं किन्तु वे भी इतने दुरुह और जटिल हैं कि व्याख्याकारों को भी उनका व्याख्यान करने में एक स्वर से अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ी है। अकलङ्क के व्याख्याकारों में अनन्तवीर्य और स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्द ये दो विद्वान् बहुत ही पराक्रमी और बुद्धिवैभव-सम्पन्न हुए हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र और वादिराज ने अपने अपने व्याख्यानग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि अनन्तवीर्य की उक्ति की सहायता से ही वे अकलङ्क को समझने में समर्थ हो सके हैं। न्यायकुमुदचन्द्र के चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ करते हुए प्रभाचन्द्र लिखते हैं—

“त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयो

दुष्प्रापोऽप्यकलङ्कदेवसराणिः प्रातोऽत्र पुण्योदयात् ।

स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योक्तिः

भूयान्मे नयनीतिदत्तमनस्तद्वोषसिद्धिप्रदः ॥”

अर्थात्—“त्रिलोकवर्ती वस्तुओं के ज्ञानके प्रभाव से अकलङ्कदेव की सरणि-पद्धति का उदय हुआ है अर्थात् त्रिलोकवर्ती वस्तुओं का ज्ञाता होने के कारण ही अकलङ्कदेव अपनी शैली को जन्म देसके हैं। यह शैली दुष्प्राप्य होने पर भी भाग्योदय से प्राप्त होगई है और अनन्त-वीर्य की उक्तियों से बारम्बार मैंने उसका अभ्यास और विवेचन किया है।” आदि।

न्यायविनिश्चयविवरण को प्रारम्भ करते हुए वादिराजसूरि लिखते हैं—

“गूढमर्थमकलंकवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम् ।

व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाक् दीपवार्तिरनिशं पदे पदे ॥”

अर्थात्—“अकलङ्क की वाङ्मयरूपी अगाधभूमि में निक्षिप्त गूढ़ आशय को अनन्तवीर्य के वचनरूपी दीपशिखा रातदिन पद पद पर व्यक्त करती है।”

अकलङ्कदेव के वाङ्मय की गहनता और अपनी असमर्थता बतलाते हुए वादिराज और भी लिखते हैं—

“भूयोभेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयम्

कस्ताद्विस्तरतो विविच्य वदितुं मन्दः प्रमुर्मादृशः ।”

अर्थात्—“अकलङ्कदेव की वाणी अनेक भङ्ग और नयों से व्याप्त होने के कारण अति गहन है। मेरे समान अल्पज्ञ प्राणी उसका विस्तार से कथन, और वह भी विवेचनात्मक, कैसे कर सकता है ?”

इस प्रकार अनन्तवीर्य की उक्तियों से सहायता लेकर भी वादिराज अकलङ्कदेव के वाङ्मय की गहनता का अनुभवन करते हैं। अब देखिये कि स्वयं अनन्तवीर्य इसके सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

अपनी सिद्धिविनिश्चयटीका का प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

“देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः ।

न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतद् परं भुवि ॥”

अर्थात्—“यह बड़े अचरज की बात है कि अनन्तवीर्य—अनन्तशक्तिशाली भी अकलङ्कदेव के प्रकरण को पूरी तरह व्यक्त करना नहीं जानता।” इसी तरह आचार्य विद्यानन्द ने भी अकलङ्क के प्रकरणों को अनुपम बतलाया है।

अकलङ्कदेव की रचनाएँ दो प्रकार की हैं, एक पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों पर भाष्यरूप और दूसरी स्वतंत्र। प्रथम प्रकार की रचनाओं में दो ग्रन्थ हैं एक तत्त्वार्थराजवार्तिक और दूसरा अष्टशती, तथा द्वितीयप्रकार की रचनाओं में लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण-संग्रह, स्वरूपसम्बोधन, वृहत्त्रय, न्यायचूल्हिका, अकलंकस्तोत्र, अकलङ्कप्रायश्चित्त, और अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ ये दस ग्रन्थ सम्मिलित किये जाते हैं। इन ग्रन्थों के अकलङ्करचित होने की विवेचना और उनका संक्षिप्त परिचय नीचे क्रमशः दिया जाता है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक (सभाष्य) — उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रों के दो पाठ प्रचलित हैं, उनमें से एक पाठ दिगम्बरजैनों में प्रचलित है और दूसरा श्वेताम्बरजैनों में। दिगम्बरपाठ के आधार पर इस ग्रन्थराज की रचना की गई है। सप्त तत्त्वों का वर्णन होने के कारण उक्त सूत्र-ग्रन्थ ‘तत्त्वार्थ’ के नाम से प्रसिद्ध है। महत्ता और गाम्भीर्य की दृष्टि से उसे तत्त्वार्थराज के आदरणीय नाम से भी पुकारा जाता है। इसी से प्रकृत वार्तिकग्रन्थ को तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थराजवार्तिक कहा जाता है। पहले की अपेक्षा दूसरा नाम अधिक व्यवहृत है और उसका ‘तत्त्वार्थ’ पद उड़ाकर केवल ‘राजवार्तिक’ नाम रूढ़ हो गया है। तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध आद्यटीका पूज्यपाद देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि है। वार्तिककार ने इस टीका का न केवल अनुसरण ही किया है किन्तु उसकी अधिकांश पंक्तियों को अपनी वार्तिक बना लिया है। वार्तिक के साथ उसकी व्याख्या भी है। ग्रन्थकारों ने दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया है। उद्योतकर के न्यायवार्तिक और उसकी व्याख्या की तरह दोनों एककर्तृक ही प्रसिद्ध हैं। मूलग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र दस अध्यायों में विभक्त है अतः राजवार्तिक में भी दस ही अध्याय हैं किन्तु न्यायवार्तिक की तरह ही प्रत्येक अध्याय को आह्निकों में विभक्त कर दिया गया है। इससे पहले जैनसाहित्य में अध्याय के आह्निकों में विभाजन करने की पद्धति नहीं पाई जाती। यह ग्रन्थ भारतीय जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था से प्रकाशित हो चुका है। उसमें ‘जीयाक्षिरमकलङ्कब्रह्मा’ आदि श्लोक को छोड़कर कहीं भी ग्रन्थकार का नाम नहीं आता। अभी तक केवल परम्परा और प्रौढ़ शैली के आधार पर ही इसे अकलङ्कदेवरचित माना जाता था किन्तु सिद्धिविनिश्चय की टीका के एक उल्लेख पर से अब इसके प्रसिद्ध अकलङ्कदेवरचित होने में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता।

अकलङ्क के अन्य ग्रन्थों की तरह इसकी शैली भी अतिप्रौढ़ और गहन है। वार्तिक तो प्रायः सरल और संक्षिप्त हैं किन्तु उनका व्याख्यान इतना जटिल है कि उसको विशद करने के लिये न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका की कोटि की एक टीका का अभाव पद पद पर अखरता है। अकलङ्क के अन्य ग्रन्थों के अवलोकन करने से पाठक के मानस पर उनके केवल प्रौढ़ दार्शनिकरूप का ही चित्रण होता है किन्तु इस ग्रन्थ में उसे उनकी त्रिमूर्ति—दार्शनिक सैद्धान्तिक और वैयाकरण के दर्शन होते हैं। उनका बहुश्रुतत्व और सर्वाङ्गीण पाण्डित्य इसी एक ग्रन्थ से प्रकट

१ न्यायदीपिका में ‘यद्वाराजवार्तिकम्’ और ‘भाष्यञ्च’ करके दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया है।

२ “सूरिणा अकलङ्केन वार्तिककारेण” पृ० २५४ पृ०।

हो जाता है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता और भी है। इसमें जैनदर्शन के प्राण अनेकान्तवाद को बहुत व्यापक रूप दिया गया है। जितने विवाद उत्पन्न किये गये हैं उन सबका समाधान प्रायः अनेकान्तरूपी तुला के आधार पर ही किया गया है। खोजने पर ऐसे विरले ही सूत्र मिलेंगे जिनमें 'अनेकान्तात्' वार्तिक न हो। यों तो वार्तिककार के दार्शनिक होने के कारण प्रत्येक अध्याय और प्रत्येक सूत्र की व्याख्यानशैली में दार्शनिक दृष्टिकोण के दर्शन होते ही हैं किन्तु प्रथम और पञ्चम अध्याय का विषय दार्शनिक क्षेत्र से सम्बद्ध होने के कारण उनमें दर्शन-शास्त्र के प्रेमियों के लिये पर्याप्त सामग्री भरी हुई है। शेष अध्यायों का विषय आगमिक है और जैनसिद्धान्तों के जिज्ञासु इस एक ग्रन्थ के आलोडन से ही बहुत से शास्त्रों का रहस्य जान सकते हैं। तथा उन्हें इसमें कुछ ऐसी बातें भी मिलेंगी जो उपलब्धसाहित्य में अन्यत्र नहीं मिलती।

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में सांख्य वैशेषिक और बौद्धों के मोक्ष का विवेचन, छठे सूत्र की व्याख्या में सप्तमंगी का निरूपण, ९वें से १३ वें सूत्र तक ज्ञानविषयक विविधविषयों की आलोचना, और अन्तिमसूत्र की व्याख्या में ऋजुसूत्र का विषयनिरूपण, द्वितीय अध्यायके ८ वें सूत्र की व्याख्या में आत्मनिषेधक अनुमानों का निराकरण, चतुर्थ अध्यायके अन्त में अनेकान्तवाद के स्थापनपूर्वक नयसप्तमंगी और प्रमाणसप्तमंगी का विवेचन, पांचवें अध्याय के २ रे सूत्रकी व्याख्या में वैशेषिक के 'द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यम्' इस सिद्धान्त की आलोचना, ७ वें की व्याख्या में वैशेषिकदर्शन के 'आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म' (५-१-१) की आलोचना, ८ वें की व्याख्या में अमूर्तिक द्रव्यों का सप्रदेशत्वसाधन, १९ वें की व्याख्या में मन के सम्बन्ध में वैशेषिक बौद्ध और सांख्य के विविध दृष्टिकोणों की आलोचना, २२ वें की व्याख्या में अपरिणामवादियों के द्वारा वस्तु के परिणामित्व पर आपादित दोषों का निराकरण, व्यासभाष्य के परिणाम के लक्षण की आलोचना तथा क्रिया के ही काल माननेवालों का खण्डन, २४ वें की व्याख्या में स्फोटवादका निराकरण, आदि विषय दर्शन-शास्त्र के प्रेमियों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। तथा जैनसिद्धान्त के प्रेमियों के लिये १-७ वें सूत्र की व्याख्या में अजीवादितत्त्वों के साथ निर्देश, स्वामित्व आदि की योजना, १-२० की व्याख्या में द्वादशाङ्ग के विषयों का संक्षिप्त परिचय, १-२१, २२ की व्याख्या में अवधिज्ञान का विषय, २-७ की व्याख्या में सांनिपातिकभावों की चर्चा, २-४९ की व्याख्या में शरीरों का विषय, २-७ की व्याख्या में तीसरे अध्याय की व्याख्या में अधोलोक और मध्यलोक का विस्तृत वर्णन, ४-१९ की व्याख्या में स्वर्गलोक का पूरा विवेचन, पांचवें अध्याय की व्याख्या में जैनों के षड्रव्यवाद का निरूपण, छठे अध्याय की व्याख्या में विभिन्न कामों के करने से विभिन्न कर्मों के आस्रव का प्रतिपादन, सातवें अध्याय की व्याख्या में जैनगृहस्थ का आचार, आठवें में जैनों का कर्मसिद्धान्त, नवें में जैनमुनि का आचार और ध्यान का स्वरूप तथा दसवें में मोक्ष का विवेचन अवलोकनीय है।

अन्यसमर्थों की विवेचना में जिन ग्रन्थों से उद्धरण आदि लिये गये हैं उनमें पतञ्जलि का महाभाष्य, वैशेषिकसूत्र, न्यायसूत्र, व्यासभाष्य, वसुबन्धु का अभिधर्मकोश, विङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय, भट्टहरि का वाक्यपदीय और बौद्धों के शालिस्तम्बसूत्र का नाम उल्लेखनीय है। जैनाचार्यों में स्वामी समन्तभद्र के युक्तचतुशासन और सिद्धसेन की द्वात्रिंशतिका से एक एक पद्य उद्धृत किया है। श्वेताम्बरसम्मत सूत्रपाठ का जगह जगह निराकरण किया है।

अष्टशती—स्वामी समन्तभद्र के आप्तमीमांसानामक प्रकरण का यह भाष्य है। इसका परिमाण आठसौ श्लोकप्रमाण होने के कारण इसे अष्टशती कहते हैं। यह नाम अष्टशती में तो नहीं पाया जाता, किन्तु आप्तमीमांसा और अष्टशती के व्याख्याकार स्वामी विद्यानन्द ने अपनी अष्टसहस्री में इसे इसी नाम से अभिहित किया है। इसके आदिमङ्गल तथा अन्तमङ्गल में अकलङ्क शब्द आता है तथा अष्टसहस्रीकार विद्यानन्द तथा उसके दिष्णकार लघु-समन्तभद्र इसे अकलङ्करचित घोषित करते हैं अतः इसके अकलङ्करचित होने में कोई बाधा नहीं है। एक तो अकलङ्क का साहित्य वैसे ही गहन है उसमें भी उनकी यह कृति विशेषगहन है। यदि स्वामी विद्यानन्द इस पर अपनी अष्टसहस्री न रचते तो इसका रहस्य इसी में छिपा रह जाता। गहनता, संक्षिप्तता और अर्थगाम्भीर्य में इसकी समता करने के योग्य कोई ग्रन्थ दार्शनिकक्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। आगे और पीछे की बहुत सी बातें सोचकर सूत्ररूप में एक गूढ़ पंक्ति लिखदेना अकलङ्क की शैली की विशेषता है और वह विशेषता इस ग्रन्थ में खूब परिस्पष्ट हुई है। इतना सब कुछ होने पर भी भाषा बड़ी सरस और रुचिकर है। उदाहरण के लिये आदि मंगल को ही ले लीजिये—

“उद्दीपीकृतधर्मतीर्थमचलज्योतिर्ज्वलत्केवला—

लोकालोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितम् ।

वन्दित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभङ्गीविधिं

स्याद्वादाभूतगर्भिणीं प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयाम् ॥ १ ॥”

मूल प्रकरण में आप्त की मीमांसा करते हुए उसके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों की अकाट्यता और युक्तिसंगतता को ही आप्तत्व का आधार माना है। संसार के समस्त दर्शन दो वादों में विभाजित हैं एक अनेकान्तवाद और दूसरा एकान्तवाद। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है और और शेष एकान्तवादी, अतः आप्तमीमांसाकार ने अनेकान्तवादी वक्ता को आप्त और एकान्तवादी को अनाप्त बतलाते हुए असदेकान्त, असेकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, अपेक्षैकान्त, अनपेक्षैकान्त, युक्त्येकान्त, आगमैकान्त, अन्तरंगार्थतैकान्त, बहिरंगार्थतैकान्त, दैवैकान्त, पौरुषैकान्त, आदि एकान्तवादों की आलोचना करके अनेकान्त का व्यवस्थापन किया है। तथा अन्तमें प्रमाण, फल, स्याद्वाद और नय की चर्चा की है। अष्टशती में इन सब विषयों पर तो प्रकाश डाला ही गया है साथ में कुछ आनुषङ्गिक विषय भी प्रकारान्तर से ले लिये गये हैं। और इस तरह उन विषयों पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है जिन्हें मूलकार ने या तो छोड़ दिया था या जो उनके समय में प्रचलित नहीं हुए थे। सर्वज्ञ की चर्चा में सर्वज्ञसामान्य में विवादी मीमांसक और चार्वाक के साथ साथ सर्वज्ञविशेष में विवादी बौद्ध आदि की भी आलोचना की गई है और सर्वज्ञसाधक अनुमान का समर्थन करते हुए उन पक्षदोषों और हेतुदोषों का उद्घावन करके खण्डन किया गया है जो दिङ्नाग आदि बौद्ध नैया-

१ “वृत्तिकारास्तु अकलङ्कदेवा एवमाचक्षते कापिलं प्रति ।” अष्टसं. पृ. १०१

“जीयात्समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः ।

स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलङ्को महर्षिदिकः ॥”

नगर ताल्लुका (शिमोगा) के ४६ वें शिलालेख में ।

यिकों ने माने हैं। ६ वीं कारिका की वृत्ति में बिना इच्छा के भी बचन की उत्पत्ति सिद्ध की गई है और बौद्धों को व्याप्तिग्राहक तर्कप्रमाण मानने के लिये लाचार किया गया है। ७ वीं कारिका की वृत्ति में धर्मकीर्ति के निग्रहस्थान के लक्षण की आलोचना की है। १३ वीं कारिका की व्याख्या में स्वलक्षण को अनिर्देश्य माननेवाले बौद्धों के मत की विस्तार से आलोचना करके स्वलक्षण को भी कथंचित् अभिलाष्य सिद्ध किया है। सत्प्रभंगी का विवेचन करते हुए स्वामी समन्तभद्र ने केवल आदि के चार भंगों का ही उपयोग किया था किन्तु अकलङ्कदेव ने वैदिकदर्शनों के सामान्यवाद को सद्बक्तव्य और बौद्धों के अन्यायोद्वाद को असद्बक्तव्य बतलाकर शेष भंगों का भी उपयोग कर दिया है। ३६ वीं कारिका की वृत्ति में अनधिगतार्थग्राही अविस्त्वादी ज्ञान को प्रमाण बतलाया है। ५२ वीं कारिका की वृत्ति में बौद्धों के निर्वाण का लक्षण 'सन्तान का समूल नाश' किया है तथा सम्यक्स्य, संज्ञा, सङ्घि, वाक्कायकर्म, अन्तर्व्यायाम, अजीव, स्मृति और समाधि ये आठ अंग उसके हेतु बतलाये हैं। ९९ वीं कारिका की व्याख्या में ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्ववाद की आलोचना की है। का० १०१ में प्रमाणों की चर्चा करके सर्वज्ञ के ज्ञान दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति सिद्ध की है।

का० २ की वृत्ति में पूरणकारयप का नाम दिया है जो भगवान् महावीर के समय में प्रभावशाली प्रतिद्वन्द्वियों में से था। का० ५३ की वृत्ति में 'न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव केवलम्' यह पद प्रमाणवार्तिक से लिया है। का० ७६ में 'युक्त्या यन्न घटायुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्धे' () उद्धृत किया है। ७८ में पिटकत्रय को उदाहरण रूप में दिया है। ८० में 'सहायस्त्वमनियमादभेदो नीलतद्विद्योः' (प्रमाणविनिश्चय) उद्धृत किया है। ८९ में 'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायाश्च तादृशः। सहायास्तादृशः सन्ति यादृशी भवितव्यता।' उद्धृत किया है। १०६ की वृत्ति में 'तथाचोक्तम्' करके निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

“अर्थस्थानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।

नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तविराकृतिः ॥”

इसके सिवा तत्त्वार्थसूत्र से भी एक दो सूत्र उद्धृत किये हैं।

लघीयख्य—इस ग्रन्थ का परिचय वगैरह प्रारम्भ में दिया गया है। इसकी शैली तथा अन्तिम पद्यां में आये 'अकलङ्क' शब्द से इसके अकलङ्करचित होने में कोई विवाद शेष नहीं रह जाता। तथा उस पर न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता और तात्पर्यवृत्ति के रचयिता, दोनों उसे अकलङ्करचित बतलाते हैं। तथा आचार्य विद्यानन्द ने इसकी तीसरी कारिका को 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' करके अपनी 'प्रमाणपरीक्षा' में उद्धृत किया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर इस ग्रन्थ को अकलङ्करचित ही मानना चाहिये।

स्वोपज्ञविवृति—लघीयख्यग्रन्थ की विवृति भी अकलङ्करचित ही कही जाती है। प्रभाचन्द्र ने मूल और विवृति के आधार पर ही अपने न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ की रचना की है। इसकी शैली अष्टशती से मिलती है और परिमाण भी करीब करीब उतना ही है। यद्यपि इन सब बातों से ही यह विवृति अकलङ्करचित प्रतीत होती है। किन्तु इसके समर्थन में एक और भी प्रबल प्रमाण मिलता है। सिद्धिविनिश्चय टीका में 'उक्तं लघीयख्ये' करके 'प्रमाणफलयोः

क्रमभावेऽपि तादात्म्यं प्रत्येयम्' यह वाक्य उद्धृत किया है। जो उसकी छठी कारिका की विवृति का अन्तिम वाक्य है।

न्यायविनिश्चय—न्यायविनिश्चयविवरण के नाम से बादिराजरचित इसकी एक बृहत् टीका कुछ भण्डारों में मिलती है। अभी तक यह ग्रन्थ विशकलितरूप से इस टीका में ही पाया जाता था। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने बड़े परिश्रम से उस पर से इस ग्रन्थ का उद्धार करके उसे क्रमबद्ध किया है। न्यायकुमुदचन्द्र के संपादन में इसका उपयोग करने के लिये हमने भी टीका पर से इस ग्रन्थ का सङ्कलन करके मुख्तार सा० की प्रति के आधार पर ही उसे क्रमबद्ध और पूर्ण किया था। किन्तु अभी इसके अविकल होने में सन्देह है, कारण यह है कि मुख्तार सा० के संग्रह में कई कारिकाएँ ऐसी हैं, जो मूल की प्रतीत नहीं होती तथा खोजने पर कुछ नवीन किन्तु सन्दिग्ध कारिकाओं का भी पता चलता है।

इसमें तीन प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्षप्रस्ताव, अनुमानप्रस्ताव और आगमप्रस्ताव। प्रथम प्रस्ताव के अन्त में एक, दूसरे के अन्त में दो और तीसरे के अन्त में तीन पद्य हैं। लघीयस्त्रय की तरह मंगलाचरण के बाद इसमें भी एक पद्य आता है, जिसमें 'न्यायो विनिश्चीयते' के द्वारा ग्रन्थ का नाम और उद्देश्य दोनों बतलाये गये हैं। शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ कारिकाओं में निबद्ध है। वर्तमान संग्रह के अनुसार कारिका और पद्यों की संख्या मिलाकर पहले प्रस्ताव में १६९ दूसरे में २१६ और तीसरे में ९४ है। मङ्गलाचरण और उद्देश्यनिर्देश के पश्चात् प्रत्यक्ष के लक्षण से ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। लघीयस्त्रय तथा प्रमाणसंग्रह में दत्त प्रत्यक्ष की परिभाषाओं की अपेक्षा इसमें दत्त परिभाषा में कई विशेषताएँ हैं। प्रथम तो इसमें लक्षण का क्रम ऐसा रखा गया है कि उसमें प्रत्यक्ष का विषय भी बतला दिया गया है। किन्तु यह विशेषता तो साधारण है। दूसरी और ध्यान देने योग्य विशेषता है लक्षण में 'साकार' और 'अञ्जसा' पदों का बढ़ाया जाना तथा विषय में 'द्रव्य' और 'पर्याय' के साथ साथ 'सामान्य' और 'विशेष' पदों का भी प्रयोग करना। 'साकार' और 'अञ्जसा' पदों की सार्थकता अथवा आवश्यकता का निर्देश तो मूल ग्रन्थ में नहीं किया गया किन्तु अर्थ, द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष का विवेचन विस्तार से किया है। प्रथम प्रस्ताव में ज्ञान को अर्थग्राही सिद्ध करते हुए बौद्धाभिमत विकल्प के लक्षण, तदाकारता, विज्ञानवाद, नैरात्म्यवाद, परमाणुवाद आदि की विस्तार से आलोचना की है और ज्ञान को स्वसंवेदी तथा निराकार सिद्ध किया है। द्रव्य और पर्याय की चर्चा करते हुए गुण और पर्याय में भेदाभेद बतलाकर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का निरूपण किया है। सामान्य और विशेष की चर्चा करते हुए यौगों और बौद्धों के दृष्टिकोणों की आलोचना की है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की परिभाषा में दत्त पदों के आधार पर विविध विषयों का विवेचन करने के बाद बौद्ध के इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष का, तथा सांख्य और नैयायिक के प्रत्यक्ष का खण्डन किया है। अन्त में अतीन्द्रियप्रत्यक्ष के लक्षण के साथ पहला प्रस्ताव समाप्त होजाता है।

दूसरे प्रस्ताव में अनुमान, साध्य, साधन, हेत्वाभास, प्रत्यभिज्ञा, 'तर्क', जाति, बाध आदि का सुन्दर विवेचन है। तथा प्रसङ्गवश शब्द की अर्थाभिधेयता, सङ्केतित शब्द की प्रवृत्ति का प्रकार, जीव का स्वरूप, चैतन्य के सम्बन्ध में चार्वाक आदि के मत का खण्डन, वैशेषिक

के 'अगुणवान् गुणः' की आलोचना, नैयायिक के पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट और सांख्य के वीत, अवीत और वीतावीत हेतुओं की समालोचना आदि, विषयों पर भी प्रकाश डाला है।

तीसरे में आगम, मोक्ष और सर्वज्ञ का विवेचन करते हुए बुद्ध के कर्णनावत्त्व सर्वज्ञत्व चतुरार्यसत्य आदि का खूब उपहास किया है तथा वेदों के अपौरुषेयत्व और सांख्य के मोक्ष की भी आलोचना की है। अन्त में सप्रभंगी का विवेचन करके ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रमाण की चर्चा का उपसंहार करते हुए ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। अकलङ्क के उपलब्ध साहित्य में यह ग्रन्थ विशेष महत्त्व रखता है। इसमें अपने विषय का खासकर अनुमान-प्रमाण का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। इसकी परिभाषाओं का उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने विशेष अनुसरण किया है। विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थों में इससे अनेक पद्य उद्धृत किये हैं और अपने श्लोकवार्तिक के मूल में इसकी कई कारिकाएँ ज्यों की त्यों सम्मिलित करली हैं। अकलंकदेव को भी यह ग्रन्थ विशेष प्रिय जान पड़ता है क्योंकि अष्टशती में इसकी दो एक कारिकाएँ गद्य रूप में मिलती हैं तथा प्रमाणसंग्रह का कलेवर तो इसकी कारिकाओं से ही पुष्ट किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अष्टशती प्रमाणसंग्रह और संभवतः सिद्धिविनिश्चय से भी पहिले इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। सिद्धसेन के न्यायावतार के बाद न्यायविषय का यही एक ग्रन्थ उपलब्ध है, और इसी के आधार पर उत्तरकालीन जैनन्याय-विषयक साहित्य का सर्जन हुआ है।

यद्यपि सन्धियों में इसे स्याद्वादविद्यापतिरचित बतलाया है किन्तु टीकाकार वादिराज इसे अकलङ्करचित लिखते हैं। तथा अन्तिम पद्यों में अकलंक पद आता है। शैली वगैरह भी अकलंकदेव के अन्य ग्रन्थों से मिलती हुई है। तथा 'तदुक्तमकलंकदेवैः' करके स्वामी विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में इसको एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः इसके अकलंकरचित होने में किसी प्रकार के सन्देह को स्थान नहीं है।

न्यायविनिश्चयवृत्ति—अकलंकदेव ने प्रायः अपने सभी प्रकरणों पर छोटी सी वृत्ति भी लिखी है। न्यायविनिश्चय की वृत्ति अभी तक उपलब्ध तो नहीं हो सकी है, किन्तु कुछ प्रमाणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय की तरह अकलंकदेव ने उस पर भी वृत्ति लिखी थी। तथा जब लघीयस्त्रय जैसे लघुप्रकरणों पर वृत्ति लिखी जा सकती है तब न्यायविनिश्चय सरीखे महत्त्वपूर्ण बृहत् ग्रन्थ को यों ही नहीं छोड़ा जा सकता।

न्यायविनिश्चय की वादिराजरचित एक स्थूलकाय टीका का निर्देश हम ऊपर कर आये हैं। उस टीका में प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने प्रत्यक्ष के तीन भेद बतलाये हैं। उस पर शंकासमाधान करते हुए लिखा है—“कथं पुनः कारिकायामुक्तं त्रैविध्यमवगम्यते ? ‘प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा’ इति शास्त्रान्तरे प्रतिपादनात्। ननु प्रत्यक्षलक्षणस्यापि तत्रैव प्रतिपादनात् इहावचनप्रसङ्ग इति चेत्, इहापि वृत्तिकारेण त्रैविध्यमुक्तमेव।”

शंका—कारिका में तो प्रत्यक्ष के तीन भेद नहीं बतलाये, तब आप कैसे कहते हैं कि प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं ?

उत्तर—शास्त्रान्तर में (प्रमाणसंग्रह में) ‘प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा’ ऐसा लिखकर प्रत्यक्ष के तीन भेद किये हैं।

शंका—प्रत्यक्ष का लक्षण भी शास्त्रान्तर में बतला ही आये हैं। तब यहाँ बतलाने की क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—यहाँ भी (न्यायविनिश्चय में) वृत्तिकार ने तीन भेद किये हैं।

इस शंकासमाधान से प्रमाणित होता है कि न्यायविनिश्चय पर भी एक वृत्ति लिखी गई थी।

टीकाकार ने किसी किसी स्थल पर कुछ वार्तिकों को संग्रहश्लोक और कुछ को अन्तर-श्लोक लिखा है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—“निराकारेतरस्य” इत्यादयोऽन्तरश्लोका वृत्तिमध्यवर्तित्वात्। ‘विमुख’ इत्यादिवार्तिकव्याख्यानवृत्तिग्रन्थमध्यवर्तिनः स्वत्वमी श्लोकाः। वृत्तिचूर्णितां ? तु विस्तारभयान्नास्माभिर्व्याख्यानमुपदर्शयते। संग्रहश्लोकास्तु वृत्तिप्रदर्शितस्य वार्तिकार्थस्य संग्रहपरा इति विशेषः।” (पृ० १२०)

अर्थात् ‘निराकारेतरस्य’ इत्यादि श्लोक ‘विमुख’ इत्यादि वार्तिक के व्याख्यानस्वरूप वृत्ति के अन्तर्गत हैं अतः वे अन्तरश्लोक हैं। विस्तार के भय से वृत्ति के चूर्णिभाग (सम्भवतः गद्य भाग) का व्याख्यान हमने नहीं किया है। जिन श्लोकों में वृत्ति में बतलाये गये वार्तिक के अर्थ को संगृहीत कर दिया जाता है, उन्हें संग्रहश्लोक कहते हैं। अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोक में यही भेद है।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि टीकाकार के सामने वृत्तिग्रन्थ मौजूद था और उसमें गद्य और पद्य दोनों थे। विस्तार के भय से उन्होंने गद्यभाग को तो छोड़ दिया किन्तु पद्यभाग को अपने व्याख्यान में सम्मिलित कर लिया। अनन्तवीर्य के एक उद्धरण से भी न्यायविनिश्चय की वृत्ति के अस्तित्व का पता लगता है। उन्होंने ‘तदुक्तं न्यायविनिश्चये’ करके एक वाक्य उद्धृत किया है। ‘तदुक्तं न्यायविनिश्चयवृत्तौ’ न लिखकर ‘तदुक्तं न्यायविनिश्चये’ लिखने से शायद पाठक यह कल्पना करें कि वह वाक्य वृत्ति का न होकर मूलग्रन्थ का ही अंश है। किन्तु अनन्तवीर्य के लघीयस्त्रयविषयक एक उद्धरण से, जिसका उल्लेख लघीयस्त्रय के परिचय में हम कर आये हैं, इस प्रकार की कल्पना को जन्म देने के लिये स्थान नहीं रह जाता। अनन्तवीर्य ने ‘तदुक्तं लघीयस्त्रये’ करके भी एक वाक्य उद्धृत किया है और वह वाक्य लघीयस्त्रय की विवृति में मौजूद है। वास्तव में अनन्तवीर्य की दृष्टि में मूल और वृत्ति ये दो पृथक् पृथक् वस्तुएं न थीं। वे दोनों को ही मूल और एक ग्रन्थ मानते थे। इसी से उन्होंने अपनी टीका में सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्ति दोनों का व्याख्यान करके भी ग्रन्थ का नाम केवल ‘सिद्धिविनिश्चय टीका’ ही रखा है। उन्हीं का अनुसरण करते हुए प्रभाचन्द्र भी अपने न्यायकुमुदचन्द्र को ‘लघीयस्त्रयालंकार’ शब्द से ही पुकारते हैं यद्यपि उसमें लघीयस्त्रय और उसकी वृत्ति दोनों का व्याख्यान है। यथार्थ में अकलङ्कदेव की वृत्तियां इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके निकाल देने पर न केवल अकलङ्क को समझ सकना ही दुष्कर होता है किन्तु उनके द्वारा अर्पित ज्ञानकोश के बहुत से अमूल्य रत्नों से भी वंचित होना पड़ता है। उनकी वृत्तियों में ‘मूल’ से भी अधिक पदार्थ भरा हुआ है। न्यायविनिश्चय के विवरणकार ने अपनी टीका में वार्तिकों के जो कई कई अर्थ किये हैं वह क्या उनकी अपनी बुद्धि का चमत्कार है ? नहीं, वृत्ति की सहायता पर ही उनका व्याख्यान अवलम्बित है। अतः विनिश्चय की वृत्ति के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

सिद्धिविनिश्चय—कच्छदेश के 'कोडाय' ग्राम के श्वेताम्बर ज्ञानभण्डार से 'सिद्धिविनिश्चयटीका' की उपलब्धि हुई थी। वहाँ से यह ग्रन्थ अहमदाबाद लाया गया और गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर में उसकी कापी कराई गई। इस टीका में मूल भाग बहुत ही कम है। मूल के केवल आद्य अक्षरों का ही उल्लेख करके टीका लिखी गई है। इसमें मूल का उल्लेख दो प्रकार से पाया जाता है, एक तो 'अत्राह' करके कारिकारूप से और दूसरे 'कारिका व्याख्यातुमाह' करके कारिका के व्याख्यारूप से। इससे पता चलता है कि यह टीका सिद्धिविनिश्चयमूल और उसकी स्वोपज्ञविवृति को लेकर बनाई गई है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री और प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र में उनका मूल अन्तर्निहित है और प्रयत्न करने पर उनमें से पूरा पूरा पृथक् किया जा सकता है किन्तु सिद्धिविनिश्चयटीका में यह बात नहीं है जैसा कि हम लिख आये हैं। कहीं कहीं तो 'कारिकायाः सुसाम्भवात् व्याख्यानमकृत्वा' लिखकर कारिका की कारिका ही छोड़ दी गई है। टीकाके प्रारम्भिक श्लोकों में एक श्लोक निम्न प्रकार है—

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः ।

न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमतेद् परं भुवि ॥

इससे पता चलता है कि मूल ग्रन्थ अकलङ्कदेव का ही बनाया हुआ है। तथा 'तदाह अकलङ्कः सिद्धिविनिश्चये' लिखकर वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में एक वाक्य उद्धृत किया है, उससे भी उक्त बात का समर्थन होता है। अकलङ्क के अन्य प्रकरणों की तरह इसमें भी नमस्कार के बाद एक पद्य आता है जिसमें कण्टकशुद्धपूर्वक ग्रन्थ का नामनिर्देश किया है। इसका विनिश्चयान्त नाम भी धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय का स्मरण करता है। इसमें १२ प्रस्ताव हैं, प्रत्येक प्रस्ताव में एक एक विषय की सिद्धि की गई है। संक्षिप्त परिचय निम्नप्रकार है—

१ प्रत्यक्षसिद्धि—में प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि है। इसमें मुख्यतः धर्मकीर्तिकृत प्रत्यक्ष के लक्षण का तथा सूचनरूप से सन्निकर्ष का खण्डन करके "इदं स्पष्टं स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंख्याननिरोध्यविसंवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम्" प्रत्यक्ष का यह लक्षण स्थापित किया है। मुख्यतया बौद्ध का खण्डन होने से तत्सम्मत प्रत्यक्षग्राह्य क्षणिकपरमाणुरूप स्वलक्षण अर्थ का निरास करके स्थिर स्थूलरूप अर्थ की भी सिद्धि की गई है।

२ सविकल्पकसिद्धि—में प्रत्यक्ष के अवग्रहादि चार भेदों में प्रमाणफलभाव बताकर सभी ज्ञानों को सविकल्पक सिद्ध किया है। प्रसंगतः "बुद्धिपूर्वा क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहान्। ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अध्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्।" इस कारिका में धर्मकीर्तिकृत सन्तानान्तरसिद्धि में बताई गई युक्ति को क्षणिकैकान्त में असंभव बताकर अनेकान्तवाद में उसे संभव बताया है।

३ प्रमाणान्तरसिद्धि—में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को पृथक् प्रामाण्य सिद्धकरके चार्वाकादि की प्रमाणसंख्या का विघटन किया है। बौद्ध की सत्त्वहेतु की व्याप्ति का खण्डन करके अर्थक्रियाकारित्व को नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्त में असंभव बतलाया है और उत्पादादित्रयात्मक अर्थ की विस्तार से सिद्धि की है।

४ जीवसिद्धि—में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय बतलाकर, ज्ञानक्षणों के सर्वथा क्षणिकत्व का निरास करते हुए उनमें अन्वितरूप से रहने वाले जीवतत्त्व की विस्तार से

सिद्धि की हैं। तथा, 'ज्ञान अचेतन प्रधान का धर्म है, अदृष्ट आत्मा का गुण है,' आदि बातों का निराकरण करके आत्मा की विकारपरिणति को ही कर्मबन्ध का कारण बतलाया है।

५ जल्पसिद्धि—में स्वपक्षसिद्धि-असिद्धिनिबन्धन जयपराजयव्यवस्था का स्थापन करके धर्मकीर्ति द्वारा वादन्याय में स्थापित असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन नाम के निग्रहस्थानों की विविध व्याख्याओं का निर्देश करके खण्डन किया है। नैयायिकसम्मत झल, जाति आदि को अनुपादेय बतलाया है। वाद, जल्प और वितण्डा में वाद और जल्प को एक बतलाकर वितण्डा को कथाभास बतलाया है। प्रसङ्गवश वचन के विवक्षामात्रसूचकत्व और अन्यापोह-मात्राभिधायित्व का निरास करके उसे वास्तविक अर्थ का वाचक सिद्ध किया है।

६ हेतुलक्षणसिद्धि—में धर्मकीर्तिकृत हेतुविन्दु की प्रथम कारिका—“पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः स च त्रिधा। अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे॥” का विस्तार से खण्डन करके हेतु का लक्षण एक अन्यथानुपपत्ति ही सिद्ध किया है। कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि हेतुओं को पृथक् हेतु बतलाया है। अनुपलब्धि को विधि और प्रतिषेध-दोनों का साधक बतलाया है। अदृश्यानुपलम्भ को भी वस्तुसाधक माना है। धर्मकीर्ति के 'सहो-पलम्भनियमात्' हेतु का विविध विकल्पों द्वारा खण्डन किया है।

७ शास्त्रसिद्धि—में बतलाया है कि स्याद्वाददृष्टि से अनेकान्तात्मक वस्तु का प्रतिपादक ही शास्त्र होता है अतः सुगतादिप्रणीत शास्त्र शास्त्र नहीं है। तथा वचन विवक्षामात्र के सूचक न होकर यथार्थ अर्थ के प्रतिपादक होते हैं अतः सुगतमत में शास्त्र के लक्षण का अभाव बतलाकर देशना का भी अभाव बतलाया है। इसी तरह शरीर आदि से रहित होने के कारण ईश्वर में देशना का अभाव बतलाकर सृष्टिकर्तृत्व की विस्तार से मीमांसा की है। वेदों के अपौरुषेयत्व का भी खण्डन किया है। सराग भी बीतराग की तरह चेष्टा करते हैं अतः यथार्थ उपदेष्टा का निर्णय नहीं हो सकता, इस शंका का निरास किया है।

८ सर्वज्ञसिद्धि—में धर्मकीर्तिसम्मत सर्वज्ञ की केवल धर्मज्ञता का निराकरण करके विविध युक्तियों से पूर्ण सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन किया है। व्योतिज्ञान तथा सत्यस्वप्न के दृष्टान्त का उपयोग भी सर्वज्ञसिद्धि में किया है। कुमारिल द्वारा सर्वज्ञाभाव में दी गई प्रमेयत्व सत्त्व वक्तृत्वादि युक्तियों का तथा तत्त्वसंग्रह में कुमारिल के नाम से दी गई 'दशहस्तान्तरं व्योम्नि' इत्यादि कारिका में कही गई युक्तियों का भी निरास भले प्रकार किया है। अन्त में सर्वज्ञत्व-प्राप्ति के कारण तप आदि की भी चर्चा की है।

९ शब्दसिद्धि—में शब्द के आकाशगुणत्व, नित्यत्व, अमूर्तत्व आदि धर्मों का खण्डन करके उसे पौद्गलिक सिद्ध किया है। भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद तथा स्फोटवाद का भी खण्डन किया है। स्वलक्षण में सङ्केत की अशक्यता के कारण बौद्धों के द्वारा मानी गई अवाच्यता का खण्डन करके संकेत आदि की सिद्धि की गई है।

१० अर्थनयसिद्धि—में ज्ञाता के अभिप्राय को नय बतलाकर अर्थप्रधान नैगमादि तथा शब्दप्रधान शब्दादि नयों का निर्देश किया है। नैगमादि चार नयों का स्वरूप विस्तार से बतलाकर सांख्यादिकल्पित मतों को नयाभासों में गिनाया है। सुनय और दुर्नय का भी स्वरूप दर्शाया है। व्यवहारनयसम्मत व्यवहार को वास्तविक सिद्ध करके ब्रह्माद्वैत आदि अद्वैतवादियों के द्वारा कल्पित व्यवहार का निरास किया है।

११ शब्दनयसिद्धि—में शब्दसिद्धि में व्याकरण की उपयोगिता बतलाकर बौद्ध, नैयायिक और वैयाकरणों के द्वारा अभिमत शब्द के स्वरूप का विचार किया है। शब्दभेद से अर्थ-भेद मानकर शब्द, समभिरुद्ध और एवंभूत नयों का तथा तदाभासों का स्वरूप बताया है।

१२ निक्षेपसिद्धि—में निक्षेप के अनन्तभेद होने पर भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से उसके चार प्रकार बताये हैं। नाम के व्यस्त, समस्त, एक, अनेक आदि आठ भेद किये हैं। स्थापना के सद्भाव और असद्भाव तथा द्रव्य के आगम और नोआगम भेद किये हैं।

सिद्धसेन गणि की तत्त्वार्थटीका, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमाणमीमांसा और स्याद्वादमञ्जरी में इसकी कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। तत्त्वार्थटीका तथा जिनदास की चूर्णि में इसका नामोल्लेख भी है। चूर्णिकार ने तो इसे जिनशासन का प्रभावक ग्रन्थ माना है।

प्रमाणसंग्रह—पं० सुखलालजी के प्रयत्न से पाटन के भण्डार से यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। सिद्धिविनिश्चयटीका में इसका उल्लेख आता है। उसी टीका से यह भी प्रतीत होता है कि आचार्य अनन्तवीर्य ने इस पर भी प्रमाणसंग्रहालङ्कार या प्रमाणसंग्रहभाष्य नाम की टीका रची है। प्रमाणसंग्रह की रचना संभवतः न्यायविनिश्चय के बाद हुई है। क्योंकि इसकी बहुत सी कारिकाएँ न्यायविनिश्चय में मौजूद हैं तथा उनके ऊपर अकलंकदेव ने कुछ वृत्ति या उपक्रमसूचक वाक्य नहीं लिखे हैं। यह गद्यपद्यात्मक है। कहीं कहीं गद्यभाग में पद्य का व्याख्यान भी किया है। किन्तु समस्त गद्य और पद्य का व्याख्यान-व्याख्येयरूप सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इसका नाम सार्थक है क्योंकि प्रत्येक एकान्त पक्ष के विरुद्ध जितने प्रमाण हो सकते थे, उन सबका संग्रह इस ग्रन्थ में किया है। इसी लिए इस ग्रन्थ की भाषा और भाव अति दुरुवगाह्य है। अकलंक के उपलब्ध ग्रन्थों में इतना प्रमेयबहुल-प्रमाणों का संग्रह करनेवाला अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय की रचना की तरह इसकी रचना भी गद्यपद्यात्मक तथा जटिल है। यह ग्रन्थ अकलंक के अन्य ग्रन्थों का परिशिष्ट कहा जा सकता है अतः संभव है कि ये उनके अन्तिमकाल की रचना हो। इसमें ९ प्रस्ताव हैं।

१ प्रस्ताव—में ८॥ कारिकाएँ हैं। विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहकर उसके इन्द्रिय अनिन्द्रिय और अतीन्द्रिय रूप से तीन भेद किये हैं। इसके 'त्रिधा श्रुतमविष्णवम्' अंश पर जैनतर्कवार्तिककार शान्त्याचार्य ने आक्षेप किया है। इस प्रस्ताव में प्रत्यक्ष और उसके भेदों की चर्चा है।

२ प्रस्ताव—में ९ कारिकाएँ हैं। परोक्ष प्रमाण के भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को प्रामाण्य सिद्ध करके आगम के बल से परोक्ष पदार्थों के साथ भी अविनाभावसम्बन्ध ग्रहण कर सकने का प्रतिपादन किया है।

३ प्रस्ताव—में १० कारिकाएँ हैं। अनुमान प्रमाण तथा उसके अवयव-साध्य साधन आदि का वर्णन है। इसकी २७ वीं कारिका में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की 'चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः' कारिका की समालोचना की गई है।

४ प्रस्ताव—में १२॥ कारिकाएँ हैं। इसमें हेतु के त्रैलोक्य का खण्डन करके अन्यथानुपपन्नस्वरूप एक लक्षण का स्थापन किया है। हेतु के अनेक भेदों का विस्तार से वर्णन करके धर्मकीर्तिसम्मत हेतु के भेदों की संख्या का विषय किया है।

५ प्रस्ताव—में विरुद्धादि हेत्वाभासों का विगतवार निरूपण किया है, तथा विद्वन्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी नामके हेत्वाभास का विरुद्ध में अन्तर्भाव दिखाकर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभास से अवशिष्ट हेत्वाभासों का अकिञ्चित्कर में अन्तर्भाव दिखाया है। इस प्रस्ताव में १२ कारिकाएँ हैं।

६ प्रस्ताव—में १२॥ कारिकाएँ हैं। इसमें वाद का स्वरूप दर्शाया है। जय पराजय व्यवस्था तथा जाति का कथन करके धर्मकीर्ति के द्वारा प्रमाणवार्तिक में दिये गये दोष दधि उट्ट के अभेदत्वापत्ति को जात्युत्तर बतलाया है। तथा अनेकान्त में संभवित विरोधादि आठ दोषों का परिहार करके वस्तु को उत्पादादि रूप सिद्ध किया है।

७ प्रस्ताव—में ९॥ कारिकाएँ हैं। इसमें आगमप्रमाण का वर्णन है। आगम का प्रतिपादक होने के कारण सर्वज्ञ तथा अतीन्द्रियज्ञान की सिद्धि करते हुए उसमें आपादित दोषों का परिहार किया है। अन्त में, आत्मा कर्ममल से किस प्रकार छूटता है और उसे किस प्रकार सवेज्ञता प्राप्त होती है, इत्यादि बातों का खुलासा किया है।

८ प्रस्ताव—में १३ कारिकाएँ हैं। इसमें सप्तभंगी का निरूपण है। तथा नैगमादि सात नयों का भी कथन है। नयों का विशेष स्वरूप जानने के लिये नयचक्र ग्रन्थ देखने का निर्देश किया है।

९ प्रस्ताव—में २ कारिकाएँ हैं। निक्षेप का निर्देश करके प्रकरण का उपसंहार कर दिया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में लगभग ८९ कारिकाएँ और शेष भाग गद्य में है।

इसके छठवें प्रस्ताव में एक बात विशेष मनोरंजक है। बौद्धों ने जैनों के लिये जो अहोकि पशु, अलौकिक, तामस, प्राकृत आदि विशेषण प्रयुक्त किये हैं, उन्हीं के असंगत सिद्धान्तों के द्वारा उन विशेषणों को बौद्धों के ही लिये उपयुक्त बतलाया है। यथा—

शून्यसंवृतिविज्ञानकथा निष्फलदर्शनम् । सञ्चयापोहसन्तानाः श (स) तैते जाद्य (ज्य) हेतवः॥
प्रतिज्ञाऽसाधनं यत्तत्साध्यं तस्यैव निर्णयः । यददृश्यमसंज्ञानं त्रिकमञ्जरी (द्वी) कलक्षणम् ॥
प्रत्यक्षं निष्कलं शेषं भ्रान्तं सारूप्यकल्पनम् । क्षणस्थानमसत्कार्यममाध्यं पशुलक्षणम् ॥
प्रेत्यभावात्ययो मानमनुमानं मृदादिवत् । शास्त्रं सत्यं तपो दानं देवतानित्यलौकिकम् ॥
शब्दः स्वयंभूः सर्वकार्याकार्येष्वतीन्द्रिये । न कश्चित्तेतनो ज्ञाता तदर्थस्येति तामसम् ॥
पदादिसत्त्वे साधुत्वन्यूनाधिक्यक्रमस्थितिः । प्रकृतार्थाविघातेऽपि प्रायः प्राकृतलक्षणम् ॥

बृहत्त्रय—इस ग्रन्थ के अस्तित्व की सूचना जैनहितैषी में प्रकाशित 'श्रीमद्भट्टकलंक' शीर्षक निबन्ध में दी गई थी और कहा गया था कि कोल्हापुर में श्री पं० कल्लप्पा भरमप्पा नितवे के पास लघीयस्त्रय और बृहत्त्रय दोनों ग्रन्थ मौजूद हैं। इस सूचना के बाद अकलंकदेव के प्रायः सभी परिचयलेखकों ने उसे दोहराया। लघीयस्त्रय का प्रकाशन हुए वर्षों बीत गये किन्तु बृहत्त्रय के किसी को दर्शन भी न हो सके। पं० नाथुरामजी प्रेमी ने नितवे महोदय से इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखा पढ़ी की किन्तु उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला शायद नितवे महोदय उसे अपने साथ स्वर्ग में ले गये हों। हमारे मत से तो 'लघीयस्त्रय' नाम ने ही इस 'बृहत्त्रय' की कल्पना को जन्म दिया है। किसी ने सोचा होगा कि जब एक लघीयस्त्रय है तो कोई बृहत्त्रय भी होना ही चाहिये। एक बार अकलंकदेव के ग्रन्थों के बारे में लिखते हुए पं०

जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इस वृहत्त्रय की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया था। आपने लिखा था—“अकलंकदेव के मौलिक ग्रन्थों में लघीयस्त्रय के अतिरिक्त तीन ग्रन्थ सबसे अधिक महत्त्व के हैं—सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, और प्रमाणसंग्रह। शायद इन्हीं के संग्रह को वृहत्त्रय कहते हैं।” मुख्तार सा० की संभावना किसी हद तक ठीक हो सकती है, किन्तु लघीयस्त्रय का परिचय देते हुए हम बतला आये हैं कि इसका नाम लघीयस्त्रय अवश्य है किन्तु इसे हम तीन स्वतंत्र प्रकरणों का संग्रह नहीं कह सकते, अतः उसके आधार पर उक्त तीनों ग्रन्थों को वृहत्त्रय नाम नहीं दिया जा सकता। हाँ, यह संभव है कि किसी ने लघीय-स्त्रय की अन्तरंग परीक्षा किये बिना केवल उसके नाम के आधार पर उक्त तीनों ग्रन्थों को बड़ा होने के कारण वृहत्त्रय नाम दे दिया हो। किन्तु अभी तक ‘वृहत्त्रय’ का उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया और हमें यह एक कोरी कल्पना ही प्रतीत होती है। अतः अकलंककृत ग्रन्थावली में से इस नाम को निकाल देना चाहिये।

न्यायचूल्का—इसका उल्लेख भी जैनहितैषी के उक्त लेख में ही सर्वप्रथम मिलता है। उसमें लिखा है—“न्यायचूल्का नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है कि वह अकलंकदेव का बनाया हुआ है।” किन्तु न तो लेखक ने ही उसके स्थान का निर्देश किया और न किसी स्थल से हमें ही इस ग्रन्थ के अस्तित्व का निर्देश मिल सका। अतः जब न्यायचूल्का नाम के किसी ग्रन्थ तक का भी पता नहीं है, तब उसको अकलंककरचित ठहराना निराधार है।

स्वरूपसम्बोधन—स्व० डा० विद्याभूषण ने अकलंककरचित ग्रन्थों में इसका निर्देश किया है और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित लघीयस्त्रयादिसंग्रह नामक पुस्तक में अकलंक के नाम से यह प्रकाशित भी हो चुका है। उसकी प्रस्तावना में श्रीयुत प्रेमीजी ने इसे अकलंककरचित बतलाया है। संप्रसंगीतरङ्गिणी में इसकी तीसरी कारिका ‘तदुक्तमकलंक-देवैः’ करके उद्धृत की गई है। तथा अकलंक के अन्य ग्रन्थों के साथ स्वरूपसम्बोधन का अध्ययन करने से उसका कहीं कहीं अकलंक के अन्य प्रकरणों से मेल खाता है। यथा—

कर्ता यः कर्मणां मोक्षा तत्फलानां स एव तु ॥ स्व० सं०

कर्मणामपि कर्ताऽयं तत्फलस्यापि वेदकः ॥ न्या० वि०

इसके अतिरिक्त इसमें अनेकान्त की शैली का भी अनुसरण किया गया है। इन सब बातों के आधार पर इसे अकलंककरचित कहा जा सकता है किन्तु इसके विरुद्ध अनेक ठोस प्रमाण हैं जिनके आधार पर इसे अकलंक की रचना नहीं कहा जा सकता।

अण्डारकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूना की पत्रिका, जिल्द १३, पृ० ८८ पर स्वरूपसम्बोधन के कर्ता के सम्बन्ध में प्र० ए० एन० उपाध्ये का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने लिखा है कि कोल्हापुर के लक्ष्मीसेनमठ में स्वरूपसम्बोधन की एक कनड़ी टीका मौजूद है। उसमें नयसेन के शिष्य महासेन को उसका कर्ता बतलाया है। तथा नियमसार की संस्कृत टीका में पद्मप्रभमलधारी देव ने ‘उक्तश्च षण्णवतिपाषंडिविजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेन-पण्डितदेवैः’ और ‘तथा चोक्तं श्रीमहासेनपण्डितदेवैः’ करके स्वरूपसम्बोधन की १२ वीं और ४थी कारिका उद्धृत की है। उसी लेख के एक फुटनोट में यह भी लिखा है कि पण्डित

जुगलकिशोरजी ने मूढविदुरे के पडुवस्ती भण्डार की ग्रन्थसूची देखी थी, उसमें भी स्वरूप-सम्बोधन को महासेन की रचना बतलाया है। तथा उसी सूची में महासेन के एक प्रमाण-निर्णय नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख है। उक्त प्रतियों तथा उद्धरणों के आधार पर यह ग्रन्थ महासेन का सिद्ध होता है। इस तरह हम देखते हैं कि स्वरूपसम्बोधन के रचयिता के बारे में दो परम्पराएँ प्रचलित हैं, एक के अनुसार उसके कर्ता अकलंक हैं और दूसरी के अनुसार नयसेन के शिष्य महासेन। भरतेश्वरभैरव में तत्त्वोपदेशप्रसङ्ग में कुछ जैन ग्रन्थों के नाम दिये हैं। उनमें पद्मनन्दिकृत स्वरूपसम्बोधन का नाम आया है। संभव है कि पद्मनन्दि ने भी स्वरूपसम्बोधन के नाम से कोई ग्रन्थ रचा हो। किन्तु पूर्वोक्त दो परम्पराएँ तो एक ही ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रचलित हैं और दोनों ही प्राचीन हैं। शुभचन्द्रकृत पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में लिखा है कि शुभचन्द्र ने स्वरूपसम्बोधन पर एक वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति के अवलोकन से स्वरूपसम्बोधन और उसके कर्ता के सम्बन्ध में वृत्तिकार का मत मालूम हो सकता है। किन्तु पता नहीं, वह प्राप्य भी है या नहीं। अतः वर्तमान परिस्थिति में हम उसके कर्ता का निश्चय कर सकने में असमर्थ हैं, किन्तु उसकी रचना आदि पर से वह हमें अकलंक की कृति नहीं प्रतीति होती।

अकलङ्कस्तोत्र—यह स्तोत्र मुद्रित हो चुका है। इसमें १२ शार्दूलविक्रीडित और ४ स्रग्धरा छन्द हैं। महादेव, शङ्कर, विष्णु, ब्रह्मा, बुद्ध आदि नामधारी देवताओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है उसकी आलोचना करते हुए, निष्कलङ्क, ध्वस्तदोष, वीतराग परमात्मा को ही बुद्ध, वर्ज्यमान, ब्रह्मा, केशव, शिव आदि नामों से पुकारते हुए उसी का स्तवन और बन्दन किया गया है, इसी से इस स्तोत्र को अकलङ्कस्तोत्र अर्थात् दोषरहित परमात्मा का स्तवन कहा जाता है। इसके ११ वें और १२ वें पद्य का अन्तिम चरण “नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्।” है। इन दोनों पद्यों के प्रारम्भ के तीन चरणों में बतलाया गया है कि संसार पर न तो ब्रह्मा के वेष की छाप है, न शम्भु के, न विष्णु के और न बुद्ध के ही वेष की। और उक्त अन्तिम चरण में कहा गया है कि हे वादियों देखो, यह संसार जैनेन्द्रमुद्रा अर्थात् नग्नता की छाप से चिह्नित है (प्रत्येक प्राणी नग्न ही पैदा होता है)।

इन श्लोकों के बाद मल्लिषेणप्रशस्ति का ‘नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा’ आदि श्लोक आता है। इस श्लोक के बाद पुनः पुराना राग अलापा जाता है और शिव के खट्वांग, मुण्डमाला, भस्म, शूल आदि की चर्चा शुरू हो जाती है। इसके बाद १५ वें और १६ वें पद्यों में अकलङ्क परमात्मा के स्थान में शास्त्रार्थी अकलङ्कदेव की प्रशंसा होने लगती है, और इस स्तोत्र की विचित्र रचना को देखकर तारादेवी के साथ साथ बेचारे पाठक को भी सिर धुनना पड़ता है। स्तोत्र को देखकर थोड़ासा भी समझदार मनुष्य बिना किसी सङ्कोच के कह सकता है कि इसका तेरहवां पन्द्रहवां और सोलहवां पद्य प्रक्षिप्त है, किसी ने इसे अकलङ्करचित प्रसिद्ध करने की धुन में उन्हें पीछे से जोड़ दिया है। जोड़नेवाले ने अपनी दृष्टि में बहुत बुद्धिमानी से काम लिया है क्योंकि ११ वें और १२ वें श्लोकों के, जिसमें वादियों को ललकारा है, बाद ही मल्लिषेण प्रशस्तिवाला १३ वां पद्य आता है। मानों, अकलङ्कदेवने किसी राजसभा में खड़े होकर स्तोत्र की रचना की है। किन्तु उसके बाद का ‘खट्वाङ्गं नैव हस्ते’ आदि श्लोक उसकी

बुद्धिमानी का रहस्य उद्घाटित कर देता है। तथा अकलङ्कदेव की प्रशंसापरक अन्तिम दो श्लोकों उसके अकलङ्करचित होने की मान्यता का समूल उच्छेद कर देते हैं। किसी किसी का विचार है कि—“मल्लिषेणप्रशस्तिवाले पद्य को स्वयं अकलङ्क के द्वारा कहा गया मानने में कोई बाधा नहीं दीखती। शेष अन्तिम दो पद्यों को अकलङ्क के किसी शिष्य ने रचा होगा, और उनका स्तोत्र के अन्त में होना यही सिद्ध करता है कि स्तोत्र अकलङ्क का रचा हुआ है। कम से कम उस समय और उस व्यक्ति के निकट तो यह अवश्य ही उनकी रचना थी, जिस समय जिस व्यक्ति ने उक्त दो प्रशंसात्मक श्लोक स्तोत्र के अन्त में जोड़े थे।” आदि। अकलङ्कस्तोत्र के अन्तिम दो पद्य तो अवश्य ही अकलङ्क के किसी भक्तजन के बनाये हुए हैं। हाँ, मल्लिषेणप्रशस्ति वाले श्लोक के स्वयं अकलङ्करचित होने में इतिहासकों को विवाद हो सकता है। मल्लिषेणप्रशस्ति में यह श्लोक ‘राजन साहसतुंग’ आदि अन्य दो श्लोकों के बाद आता है और उससे ऐसा मालूम होता है कि साहसतुंग राजा की सभा में अकलङ्क ने वे श्लोक कहे थे।

इतिहासप्रेमी पाठकों को स्मरण होगा कि स्वामी समन्तभद्र के बारे में भी इसी तरह के कुछ श्लोक सर्वविश्रुत हैं, जिनमें उनके दिग्विजय तथा किसी राजा की सभा में शास्त्रार्थ का चैलेञ्ज देने का वर्णन उनके मुख से कराया गया है। मल्लिषेणप्रशस्ति के अकलङ्कसम्बन्धी प्रारम्भिक दो श्लोक भी उन्हीं श्लोकों की छाया में बनाये जान पड़ते हैं। इसी से अकलङ्क के श्लोक का एक चरण “वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदितशेषशास्त्रो यदि स्यात्।” समन्तभद्र के श्लोक के एक चरण ‘राजन यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी’ का बिल्कुल प्रतिरूप जान पड़ता है। तथा अकलङ्क का अपने मुख से राजासाहसतुंग की और अपनी प्रशंसा में उस तरह के शब्द निकालना भी संभव प्रतीत नहीं होता। अतः प्रशस्ति में संकलित आरम्भिक दो श्लोक तो बनावटी जान पड़ते हैं किन्तु हिमशीतलवाला श्लोक, जो अकलङ्कस्तोत्र में भी है, अकलङ्करचित हो सकता है क्योंकि कि उसमें वही कारुण्यभाव झलकता है जो न्याय-विनिश्चय के द्वितीय पद्य में अङ्कित है। अतः पूर्वदर्शित विचारों के पूर्वार्ध से सहमत होने में हमें भी कोई बाधा नहीं दीखती किन्तु उस श्लोक के अस्तित्व से स्तोत्र का अकलङ्करचित होना प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि स्तवन में उस श्लोक की स्थिति उतनी भी उपयुक्त नहीं है जितनी

१ किंवायो भगवानमेयमहिमा देवोऽकलङ्कः कलौ

काले यो जनतासु धर्मनिहितो देवोऽकलङ्को जिनः ।

यस्य स्फारविवेकमुद्रलहरीजालेऽप्रमेयाकुला

निर्मग्ना तनुतेतरां भगवती तारा शिरःकम्पनम् ॥ १५ ॥

सा तारा खलु देवता भगवतोमन्यापि मन्यामहे

षण्मासावधिजाज्वलसंख्यभगवद्भूषणकलङ्कप्रभोः ।

वाक्कल्लोलपरम्पराभिरमते नूनं मनोमजन-

व्यापारं संहृतेस्म विस्मितमतिः सन्ताडितैस्ततः ॥ १६ ॥

२ देखो, जै० लि० भास्कर, भाग ३, पृ० १५५ ।

३ प्रशस्ति के तीनों श्लोक ‘शास्त्रार्थी अकलङ्क’ नामक स्तम्भ में उद्धृत किये जा चुके हैं ।

४ यह श्लोक ‘ग्रन्थकार अकलङ्क’ शीर्षक में उद्धृत है ।

कटे वस्त्र में पेवन्द (थेगरा) की होती है, वह तो वहां जबरन ठूसा गया जान पड़ता है, और इस कार्य को करने का सन्देह उन्हीं महात्मा पर किया जा सकता है जिन्होंने स्वरचित या पररचित प्रशंसापरक अन्तिम दो श्लोक जोड़े हैं।

अकलङ्कदेव को शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्दों में अपना अभिप्राय प्रकट करना विशेष प्रिय था, अकलङ्क के प्रकरणों के उद्देश्यनिर्देशक और उपसंहारात्मक पद्यों के देखने से ऐसा प्रतीत होता है। प्रकृत स्तोत्र भी उक्त दो छन्दों में ही रचा गया है। किन्तु उसका विषय अकलङ्क के व्यक्तित्व के बिल्कुल प्रतिकूल है, उसमें उनकी दार्शनिकता की छाया रंचमात्र भी नहीं है। समन्तभद्र, सिद्धसेन, विद्यानन्द आदि दार्शनिकों के स्तोत्रों में गहन तत्त्वचर्चा का निरूपण देखने में आता है, तब अकलङ्क जैसे वाग्मी की लेखनी से इस प्रकार की तात्त्विक-चर्चा से शून्य और अक्रमबद्ध स्तवन की आशा कैसे की जा सकती है? हम ऊपर लिख आये हैं कि अकलङ्कदेव अपने सभी प्रकरणों के अन्त में किसी न किसी रूप में अपना नाम देते हैं, किन्तु अकलङ्कस्तवन में किसी स्थल पर भी अकलङ्क नाम का निर्देश नहीं है। अतः अकलङ्कस्तवन को प्रसिद्ध अकलङ्करचित तो नहीं माना जा सकता। संभव है अकलङ्क नाम के किसी दूसरे विद्वान ने उसे रचा हो और हिमशीतलवाले श्लोक की उपस्थितिने उसे प्रसिद्ध अकलङ्कदेव रचित होने की जनश्रुति देदी हो।

अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अपनी ग्रन्थपरीक्षा के तीसरे भाग में इस प्रतिष्ठापाठ की समीक्षा करके प्रमाणित किया है कि यह प्रतिष्ठापाठ प्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलङ्कदेव की कृति नहीं है किन्तु उनके समाननामा किसी दूसरे पंडित की कृति है। क्योंकि कि उसमें आदिपुराण, ज्ञानार्णव, एकसंधिसंहिता, सागारधर्माश्रित, आदि ग्रन्थों से बहुत से पद्य दिये गये हैं। उन्होंने इसका रचनाकाल वि० सं० १५०१ और १६६५ के मध्य में प्रमाणित किया है।

अकलंकप्रायश्चित्त—यह ग्रन्थ इसी ग्रन्थमाला के १८वें ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुका है। इसमें २९ श्लोक और अन्त में एक पद्य है। मंगलाचरण में 'जिनचन्द्र' के विशेषणरूप अकलङ्क पद आया है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है इसमें विभिन्न प्रकार के दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त बतलाया गया है। प्रायश्चित्त में अभिषेक का विधान बहुतायत से किया गया है। इससे यह ग्रन्थ भट्टारकयुग की रचना जान पड़ता है। मद्रास से प्रकाशित सूचीपत्र के अनुसार अकलंक नाम के विद्वानों की जो तालिका दी है उसमें भट्टारक अकलंक का उल्लेख है, जिन्हें श्रावकप्रायश्चित्त का रचयिता लिखा है। यह प्रायश्चित्त ग्रन्थ वि० सं० १२५६ में रचा गया था। संभवतः यह श्रावकप्रायश्चित्त ही अकलंकप्रायश्चित्त है और भट्टारक अकलंक उसके रचयिता हैं। यदि हमारा अनुमान सत्य है तो इसे विक्रम की १३ वीं शताब्दी की रचना मानना होगा।

प्रमाणरत्नदीप और जैनवर्णाश्रम नामक कन्नड़ ग्रन्थ भी अकलंक की कृतियाँ कही जाती हैं। ये दोनों ग्रन्थ भी अकलंक नाम के किसी अन्य ग्रन्थकार की रचना प्रतीत होते हैं। कन्नड़ ग्रन्थ तो संभवतः शब्दानुशासन के रचयिता अकलंक (१६ वीं शताब्दी) का होगा। मद्रास के 'सूचीपत्रों के सूचीपत्र' में 'वादसिन्धु' नामक ग्रन्थ को भी अकलंक की कृति लिखा है

तथा लिखा है कि सीतम्बूर तिन्दीवनम् के मठ में 'अकलंकवाद' नामक एक ग्रन्थ है, किन्तु इन ग्रन्थों को देखे बिना इनके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।

इस विस्तृत चर्चा के आधार पर, वर्तमान में, केवल तत्त्वार्थराजवार्तिक, अष्टशती, लघीय-स्त्रय (सविवृति), न्यायविनिश्चय (सविवृति), सिद्धिविनिश्चय (सविवृति) और प्रमाण-संग्रह, ये ६ ग्रन्थ ही अकलंकदेवरचित प्रमाणित होते हैं। संभव है कुछ अन्य ग्रन्थ भी उन्होंने रचे हों और वे यदि मूषकों के आक्रमण से बचे हों तो किसी भण्डाररूपी कारागार में अपने जीवन की शेष घड़ियाँ गिनते हों, किन्तु अकलंकदेव के विरुद्ध की सत्यता प्रमाणित करने के लिये उक्त ग्रन्थरत्न ही पर्याप्त हैं। उनके अनुशीलन से प्रत्येक विद्वान् इस निर्णय पर पहुँचता है कि उनका रचयिता एक प्रौढ़ विद्वान् और उच्चकोटि का ग्रन्थकार था।

अकलंक का व्यक्तित्व

(उनके साहित्य के आधार पर)

किसी ने कहा है और ठीक कहा है कि साहित्य कवि के मनोभावों का न केवल मूर्तिमान् प्रतिबिम्ब है किन्तु उसकी सजीव आत्मा है। कवि जो कुछ विचारता है और जो कुछ करता है उसकी प्रतिध्वनि उसके साहित्य में सर्वदा गूँजती रहती है। अतः कवि के व्यक्तित्व का प्रामाणिक परिचय उसके साहित्य से मिलता है।

यद्यपि अकलंकदेव का साहित्य तर्कबहुल और विचारप्रधान है, उसका बहुभाग इतर दर्शनों की समीक्षा से ओतप्रोत है, तथापि किसी किसी स्थल पर कुछ ऐसी बातें पाई जाती हैं जिनके आधार पर हम उनके व्यक्तित्व को समझने का प्रयत्न कर सकते हैं।

अकलंक के प्रकरणों के अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे अल्पभाषी और सतत विचारक थे, और ज्यों ज्यों वे वयस्क होते गये उनके ये गुण भी अधिक अधिक विकसित होते गये। उन्होंने जो कुछ लिखा बहुत थोड़े शब्दों में लिखा और खूब मनन कर लेने के बाद लिखा। इसी से उनकी रचना गहन और चिन्तनीय है, खोजने पर भी उसमें एक भी शब्द व्यर्थ नहीं मिल सकता। किन्तु वे शुष्क दार्शनिक नहीं थे, बल्कि बड़े विनोदी और परिहास-कुशल व्यक्ति थे। उनके गहन साहित्यकानन में विचरण करते करते जब पाठक कुछ क्लान्ति सी अनुभव करने लगता है, तब दार्शनिक परिहास की पुट उसकी क्लान्ति को दूर करके पुनः उसके मस्तिष्क को तरोंताजा बना देती है।

जिस समय अकलङ्कदेव ने कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया था वह समय बौद्धयुग का मध्याह्न-काल था। भारत के दार्शनिक धार्मिक राजनैतिक और साहित्यिक आकाश में, सर्वत्र उसकी प्रखरकिरणों का साम्राज्य था, उसके प्रताप से इतर दार्शनिक त्रस्त थे। इसी से अकलंक के साहित्य में बुद्ध और उसके मन्तव्यों की आलोचना बहुतायत से पाई जाती है और उनके परिहास का लक्ष्य भी वही है। मध्यकालीन खण्डनमण्डनात्मक साहित्य के देखने से पता चलता है कि उस समय इतर दर्शनों की आलोचना करते करते आलोचक मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते थे, और अपने विपक्षी को पशु तक कह डालने में संकोच न करते थे, किन्तु सदाशय अकलंक के व्यङ्ग्य-विनोद में हमें उस कटुता के दर्शन नहीं होते। कहीं कहीं वे 'देवानांप्रिय' जैसे शब्दों का प्रयोग श्लेषरूप में करते हैं और कहीं कहीं बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा जैनों के

लिये प्रयुक्त शब्दों को ही उनके लिये प्रयुक्त कर देते हैं, किन्तु अधिकतर वे अपने विपक्षी की किसी दार्शनिक भूल को पकड़कर ही उसका उपहास करते हैं। उनके उपहास के कुछ उदाहरण देखिये—अद्वैतवाद में साध्य और साधन के द्वैत के लिये भी स्थान नहीं है, किन्तु उसके बिना अद्वैतवाद का स्थापन नहीं किया जा सकता, अतः अद्वैतवादी योगाचारसम्प्रदाय का समर्थक धर्मकीर्ति उसे परिकल्पित कहता है। इस पर उपहास करते हुए अकलंक लिखते हैं—

“साध्यसाधनसंकल्पस्तत्त्वतो न निरूपितः ।

परमार्थावताराय कुतश्चित्परिकल्पितः ॥

अनपायीति विद्वत्तामात्मन्याशंसमानकः ।

केनापि विप्रलब्धोऽयं हा कष्टमकृपालुना ॥” न्या० वि०

“साध्य और साधन का समर्थन तात्त्विक नहीं है, परिकल्पित है। श्रोताओं के हृदय में परमार्थ अद्वैत का अवतार कराने के लिये उसकी कल्पना की गई है, क्योंकि उसके बिना परमार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार अपने बुद्धिकौशल का प्रदर्शन करनेवाला धर्मकीर्ति अवश्य ही किसी निर्दयी के द्वारा ठगा गया है, हा, कष्ट !!!”

और सुनिये—

धर्मकीर्ति ने अनेकान्तवादियों का उपहास करते हुए लिखा है—एक को अनेक और अनेक को एक कहना बड़ी ही विचित्र बात है। अकलंक उसका प्रत्युपहास करते हुए लिखते हैं—

“चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः ।

चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रतमं ततः ॥” न्या० वि०

“निस्सन्देह, एक को अनेक और अनेक को एक कहना एक विचित्र सिद्धान्त है किन्तु दृश्यमान इस विचित्र जगत को शून्य कहना उससे भी बढ़कर विचित्र सिद्धान्त है।” कितना सात्त्विक और युक्तिपूर्ण परिहास है।

निरंशसंवेदनाद्वैतवादी कहते हैं कि हमारा अद्वैत तत्त्व न तो किसी से उत्पन्न होता है और न कुछ करता ही है। इस पर अकलंक कहते हैं—

“न जातो न भवत्येव न च किञ्चित् करोति सत् ।

तीक्ष्णं शौद्धोदनेः शृङ्गमिति किञ्च प्रकल्प्यते ॥” न्या० वि०

“यदि आपका संवेदनाद्वैत न तो कभी उत्पन्न हुआ, न होता है और न कुछ कार्य ही करता है फिर भी वह है अवश्य। तो बुद्ध के मस्तक पर एक ऐसा तीक्ष्ण सींग भी क्यों नहीं मान लेते, जो न तो उत्पन्न होता है और न है।”

संभवतः बौद्ध दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में अपने विपक्षियों के लिये जड़, अहोकि, पशु आदि शब्दों का प्रयोग किया है। जैनों के लिये ‘अहोकि’ शब्द का प्रयोग तो एक रूढ़ शब्द बन गया है, क्योंकि उनके दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु तम रहते हैं। अकलंकदेव ने इस प्रकार के शब्दों की व्याख्या कुछ दार्शनिक मन्तव्यों के आधार पर इस रीति से की है, कि वे शब्द प्रकारान्तर से उनके प्रबल विपक्षी बौद्ध पर ही लागू हो जाते हैं। जैसे, शून्याद्वैत, संवेदनाद्वैत आदि की कथा, परमाणुसञ्चयवाद, अपोद्वाद्, सन्तानवाद

आदि सात बातें जड़ता के कारण हैं अर्थात् जो उन्हें मानता है वही जड़ है। इसी प्रकार प्रतिज्ञा का साधन न करना आदि तीन बातों को 'अहीक' का लक्षण बतलाया है इस नूतन प्रकार से विपक्षी के अपशब्दों का परिहार और आपादन सज्जनोचित रीति से होजाता है और उससे हम उसके अविष्कर्ता के सौम्य स्वभाव और चातुर्य का विश्लेषण सरलता से कर सकते हैं।

अकलङ्कदेव बौद्धों के प्रबल विपक्षी थे और अवसर मिलते ही उन पर बार करने से नहीं चूकते थे। किन्तु किसी व्यक्तिगतद्वेष के कारण उनका यह भाव न था, बल्कि सिद्धान्तभेद के कारण था, और सिद्धान्तभेद में भी कदाग्रह कारण न था, किन्तु कारण था उनका परीक्षाप्रधानत्व। आत्ममीमांसा नामक स्तवन की प्रथमकारिका पर अष्टशती भाष्य का निर्माण करते हुए जब वे कहते हैं—“आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेश्विनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयः।” अर्थात् “परमेश्वी में पाई जाने वाली देवताओं का आगमन, आकाश में गमन आदि बातों को आज्ञाप्रधान भक्तजन परमात्मत्व का चिह्न मान सकते हैं किन्तु हमारे जैसे परीक्षाप्रधान व्यक्ति नहीं मान सकते क्योंकि ये बातें तो मायाविजनों में भी देखी जाती हैं।” तब उनकी तेजस्विता साकाररूप धारण करके आखों के सामने नर्तन करने लगती है, और पाठक वरबस कह उठता है—कितने गजब का व्यक्तित्व है इन पंक्तियों के लेखक का। सचमुच यह एक ही पंक्ति अपने रचयिता के व्यक्तित्व का चित्रण करने के लिये पर्याप्त है, इससे आत्मविश्वास, अप्रभावित प्रज्ञाशालीनता आदि कितने ही सद्गुणों का बोध होता है। अतः अकलङ्कदेव का सिद्धान्तमूलक मतभेद केवल जन्मागत नहीं था किन्तु उसमें उनका परीक्षाप्रधानत्व भी कारण था। वे बौद्ध सिद्धान्तों को न्यायसम्मत न होने के साथ ही साथ जनता के लिये कल्याणकारी भी नहीं समझते थे और इसी से उनका प्रसार देखकर दुःखी होते थे। तभी तो न्याय-विनिश्चय का प्रारम्भ करते हुए उनका कारुण्यभाव जाग्रत हो उठता है और वे मलिनिकृत न्याय का शोधन करने के लिये उद्यत होते हैं। परीक्षाप्रधान होते हुए भी अकलङ्कदेव में श्रद्धा का अभाव न था, किन्तु इतना अवश्य है कि उनकी श्रद्धा परीक्षामूलक थी। अनेकान्ती होने के कारण वे न केवल हेतुवाद के ही अनुयायी थे और न केवल आज्ञावाद के ही, प्रत्युत दोनों का समन्वय ही उनके जीवन का मंत्र था। इसी से वे दोनों को प्रमाण मानते हुए लिखते हैं—“सिद्धे पुनरात्मवचने यथा हेतुवादस्तथा आज्ञावादोऽपि प्रमाणम्”। अर्थात् आज्ञा के सम्बन्ध में यह प्रमाणित हो जाना आवश्यक है कि वह आज्ञा किसी आत्मपुरुष के द्वारा दी गई है। यह प्रमाणित हो जाने पर जैसे हेतुवाद प्रमाण है वैसे ही आज्ञावाद भी प्रमाण है।

इस प्रकार अकलङ्क के साहित्य के आधार पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की झलक का थोड़ा सा आभास मिलता है और उससे हम उनके जीवन की रूपरेखा का अनुमान करने में समर्थ होते हैं।

जैनन्याय के प्रस्थापक अकलङ्क

अकलङ्क जैनन्याय के प्रस्थापक थे। उनके पश्चात्पूर्वी ग्रन्थकारों ने उनके न्याय का 'आकलङ्कन्याय' शब्द से उल्लेख किया है और उनके द्वारा निर्धारित की गई रूपरेखा को दिगम्बर और स्वेताम्बर, दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने समान रूप से अपनाया है। अकलङ्क के द्वारा स्थापित की गई रूपरेखा कितनी सुव्यवस्थित और प्रामाणिक थी? इस बात का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उनके उत्तरवर्ती किसी भी ग्रन्थकार ने उसमें परिवर्तन या संवर्द्धन

करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया और प्रायः सभी ने उनके मन्तव्यों को लेकर न्यायशास्त्र के विभिन्न अंगों पर ग्रन्थों की रचना की। यथार्थ में सातवीं शताब्दी के बाद में होने वाले जैन नैयायिकों को उत्पन्न करने का श्रेय अकलङ्कदेव को ही प्राप्त है। उन्हीं के सन्त-यत्न से जैनवाङ्मय के भण्डार में आज न्यायशास्त्रविषयक अमूल्य ग्रन्थरत्नों के दर्शन होते हैं और उनसे न केवल जैनदर्शन का किन्तु भारतीय दर्शनशास्त्र का मस्तक गौरव से उन्नत हो जाता है।

अकलङ्क ने जैनन्याय में किन किन सिद्धान्तों की प्रस्थापना की, यह जानने के लिये अकलङ्क के पूर्ववर्ती जैनन्याय की रूपरेखा का जानलेना आवश्यक है। अतः प्रथम उसी पर प्रकाश डाला जाता है।

अकलङ्क के पहले जैनन्याय की रूपरेखा

न्यायशास्त्र के इतिहास का परिशीलन करने से पता चलता है कि ईस्वी सन् से पहले न तो न्यायशब्द उस अर्थ में ही प्रचलित था जिसमें आज है, और न उस पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की ही पद्धति थी। तत्त्वचर्चा और वाद-विवाद में युक्तियों का उपयोग अवश्य किया जाता था किन्तु युक्तियों पर शास्त्र रचने की आवश्यकता का अनुभव संभवतः किसी ने भी न किया था। इसी से भगवान् महावीर के उपदेश के सारभूत द्वादशाङ्ग श्रुत में अनेकान्तदृष्टि का अनुसरण होते हुए भी, उनमें से एक भी श्रुत स्वतंत्ररीति से प्रमाण, नय, स्याद्वाद और सप्त-भंगी की चर्चा से सम्बन्ध नहीं रखता था।

प्रथम शताब्दी के विद्वान् आचार्य श्री कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में यद्यपि तर्कपूर्ण दार्शनिक शैली का अवलम्बन लिया गया तथापि उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के सामान्य लक्षण और सात भंगों के परिगणन के सिवाय, उक्तदिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं की गई। किन्तु उनके उत्तराधिकारी आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।' सूत्र के द्वारा न्यायोपयोगी सामग्री का सङ्केत किया और नयों की भी परिगणना की।

उसके बाद जैन वाङ्मय के नीलाम्बर में कालक्रम से दो जाव्वल्यमान नक्षत्रों का उदय हुआ, जिन्होंने अपनी प्रभा से जैनवाङ्मय को आलोकित किया। ये दो नक्षत्र थे स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर। स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे, बाद के कुछ ग्रन्थकारों ने इसी विशेषण से उनका उल्लेख किया है। उन्होंने अपने इष्टदेव की स्तुति के व्याज से एकान्तवादों की आलोचना करके अनेकान्तवाद की स्थापना की, तथा उपेयतत्त्व के साथ ही साथ उपायतत्त्व—आगमवाद और हेतुवाद में अनेकान्त की योजना करके अनेकान्त के क्षेत्र को व्यापक बनाया। आगमवाद और हेतुवाद में अनेकान्त की योजना करने से ऐसा प्रतीत होता है कि समन्तभद्र के समय में हेतुवाद आगमवाद से पृथक् हो गया था और उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। इसी से उन्हें आप्त की आगमसम्मत विशेषताओं में व्यभिचार की गन्ध आई और हेतुवाद के आधार पर आप्त की भीमांसा करना उचित प्रतीत हुआ। स्वामी समन्तभद्र का सम्पूर्ण विवेचन हेतुपरक होने पर भी उन्होंने हेतुशास्त्र-युक्तिशास्त्र या न्यायशास्त्र के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा, उनकी लेखनी का केन्द्रबिन्दु था केवल अनेकान्तवाद, उसी के स्थापन और विवेचन में उन्होंने अपनी लेखनी को चमत्कृत कर दिया, इसी से उनके ग्रन्थों

में अनेकान्तवाद के फलितवाद नयवाद और सप्तमंगीवाद का भी निरूपण मिलता है। फिर भी उनकी शैली हेतुवाद के कुछ मन्तव्यों पर प्रकाश डालती है और उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने उसके आधार पर कई एक रहस्यों का उद्घाटन करके उन्हें जैनन्याय में स्थान दिया है।

समन्तभद्र ने जैनन्याय को जो कुछ दिया, संक्षेप में उसकी विगत निम्न प्रकार है—

१ जैनबौद्धमय के जीवन अनेकान्तवाद और सप्तमंगीवाद की रूपरेखा स्थिर करके दर्शन-शास्त्र की प्रत्येकदिशा में उसका व्यावहारिक उपयोग करने की प्रणाली को प्रचलित किया।

२ प्रमाण का दार्शनिक लक्षण और फलै बतलाया।

३ स्याद्वाद की परिभाषा स्थिर की।

४ श्रुतप्रमाणों को स्याद्वाद और उसके विशकलित अंशों को नय बतलाया।

५ सुनय और दुर्नय की व्यवस्था की।

६ अनेकान्त में अनेकान्त की योजना करने की प्रक्रिया बतलाई।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्र ने स्याद्वाद, सप्तमंगीवाद, प्रमाण और नय का स्पष्ट विवेचन करके जैनन्याय की नींव रखी। जैनसाहित्य में न्यायशब्द का सब से पहले प्रयोग भी इन्हीं के ग्रन्थों में देखा जाता है।

स्वामी समन्तभद्र के पश्चात् जैन साहित्य के क्षितिज पर दूसरे नक्षत्र का उदय हुआ। यह नक्षत्र थे सिद्धसेन दिवाकर, जो न्याय के लिये तो सचमुच दिवाकर ही थे। इन्होंने सन्मति-तर्क नामक प्रकरण में नयों का बहुत विशद और मौलिक विवेचन किया और कथन करने की प्रत्येक प्रक्रिया को नय बतलाकर विभिन्ननयों में विभिन्न दर्शनों का अन्तर्भाव करने की प्रक्रिया को जन्म दिया। इनके समय में बौद्ध दार्शनिकों में न्यायशास्त्र के विविध अंगों पर प्रकरण रचने की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी। संभवतः न्यायशास्त्र विषयक उनके प्रकरणों को देखकर ही दिवाकरजी का ध्यान जैनसाहित्य की इस कमी की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने न्यायावतार नामक प्रकरण को रचकर जैनसाहित्य में सर्वप्रथम न्याय का अवतार करने का श्रेय प्राप्त किया। इस छोटे से प्रकरण में दिवाकरजी ने प्रमाण की चर्चा की है। उन्होंने समन्तभद्रोक्त प्रमाण के लक्षण में 'वाधविवर्जित' पद को स्थान दिया और उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करके दोनों की परिभाषा बतलाई। यद्यपि स्वामी समन्तभद्र ने सर्वज्ञ-सिद्धि में अनुमान का उपयोग किया था किन्तु अनुमान प्रमाण की परिभाषा और उसका स्वार्थ और परार्थ के भेद से विभाजन, जैनवाङ्मय में सबसे पहले न्यायावतार में ही मिलता है। और इसी लिये इसका 'न्यायावतार' नाम सार्थक है, क्योंकि न्यायशब्द का पारिभाषिक अर्थ परार्थानुमान ही किया गया है। परार्थानुमान के साथ ही साथ पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, दूषण और तद्भासों का संक्षिप्त विवेचन भी इस ग्रन्थ में किया गया है। इस प्रकार

१ देखो, आत्ममीमांसा । २ "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ।" स्वयंभूतो० श्लो० ६३ । ३ "उपेक्षाकलमाधस्य बोधस्यादानन्दान्वीः ॥ १०२ ॥" आ० सी० । ४ आ० सी० कारि० १०४ । ५ आ० सी० कारि० १०६ । ६ आ० सी० कारि० १०८ । ७ स्वयंभूतो० श्लो० १०३ । ८ तत्र नातु-पलब्धेन निर्णयितव्यं न्यायः प्रवर्तते, किन्तुर्हि १ संशयितव्यं ॥ न्या० भा० १-१-१ दिव्याना ने परार्थानुमान के पक्ष अवयवों को 'न्यायावयव' लिखा है। विद्याभूषण का 'इन्दिबनलोजिक' पृ० ४२ ।

श्री सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायोपयोगी तत्त्वों का समावेश करके जैनसाहित्य में न्याय पर स्वतंत्र प्रकरण लिखने की पद्धति को जन्म दिया।

अकलङ्कदेव के पहले पात्रकैसरि श्रीदत्त आदि अन्य भी कई जैनाचार्य हुए हैं जिन्होंने त्रिलक्षणकदर्शन, जल्पनिर्णय आदि ग्रन्थों को रचकर जैन्य न्याय के अन्य अंगों का विकास किया था। किन्तु उनका साहित्य उपलब्ध न होने के कारण उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना संभव नहीं है। अतः उपलब्ध साहित्य के आधार पर स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर ने जैन-न्याय की दिशा में प्रशंसनीय उद्योग किया और उन्हीं के द्वारा किये गये शिलान्यास के आधार पर कुशल शिल्पी अकलंक ने जैनन्याय के भव्य प्रासाद का निर्माण किया।

स्पष्टीकरण के लिये जैनन्याय के दो विभाग किये जा सकते हैं—एक विशेष और दूसरा सामान्य। विशेष विभाग का सम्बन्ध जैनन्याय के उन मन्तव्यों से है जो केवल जैनों की अनेकान्तदृष्टि से ही सम्बन्ध रखते हैं और इसलिये एकान्तवादी दर्शनों में उनके लिये कोई स्थान नहीं है। और सामान्य विभाग का सम्बन्ध न्यायशास्त्र के उन मन्तव्यों से है जिनके कारण ही न्याय न्याय कहा जाता है। प्रथम विभाग में स्याद्वाद, नयवाद और सप्तभंगीवाद का समावेश है और दूसरे में प्रमाणवाद, विशेषतया अनुमानप्रमाण और उसके परिकर हेतु हेत्वाभास आदि का। स्वामी समन्तभद्र ने प्रथम विभाग पर लेखनी चलाई और उसका ऐसा साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया कि बाद के लेखकों को उसके सम्बन्ध में विशेष लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इसका यह आशय नहीं है कि समन्तभद्र के बाद के ग्रन्थकारों ने स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा, उन्होंने लिखा और खूब लिखा, किन्तु उनके लेख से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे उक्त विषय में कुछ नूतन वृद्धि कर रहे हैं या उन्होंने किसी ऐसे नूतन सिद्धान्त का समावेश उसमें किया है जो समन्तभद्र के वर्णन में नहीं था। हाँ, ऐसे कुछ तत्त्व अवश्य मिलते हैं, जो समन्तभद्र के लेख में अव्यक्त थे और बाद के लेखकों ने उन्हें व्यक्त किया। जैसे प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी का अस्पष्टसा उल्लेख समन्तभद्र और सिद्धसेन के प्रकरणों में मिलता है, अकलंकदेव ने उसे स्पष्ट करके सप्तभंगी के दो विभाग कर दिये। सिद्धसेन दिवाकर ने न्याय के पहले विभाग के साथ ही साथ दूसरे विभाग पर भी लेखनी उठाई। और जैसा कि लिखा जा चुका है इस दिशा में उनका यह प्रथम ही प्रयास था। अकलंकदेव के समय में भारतीय न्यायशास्त्र में बहुत उन्नति हो चुकी थी, बौद्धदर्शन के पिता दिङ्नाग के अस्त के बाद धर्मकीर्ति का अभ्युत्थान हो रहा था, बौद्धदर्शन का मध्याह्नकाल था, शास्त्रार्थों की धूम थी, शास्त्रार्थों में उपयोग किये जानेवाले परार्थानुमान, छल, जाति, निग्रहस्थाव आदि अस्त्र-शस्त्रों के सञ्चालन में निपुण हुए बिना विजय पाना दुर्लभ था, तथा यदि शास्त्रार्थ के मध्य में उपेततत्त्व पर वाद-विवाद होते-होते उपायतत्त्व पर भी वाद-विवाद होने लगे तो उस पर भी अपना शास्त्रीय अभिमत प्रकट करना आवश्यक था। ऐसी परिस्थिति में जैन-न्याय के उत्तराधिकारी के रूप में अकलंकदेव को जो निधि मिली, वह उस समय के लिये पर्याप्त नहीं थी। विपक्षीदल ने अपनी विरासत को खूब समृद्ध बना लिया था, तथा कुछ ऐसे उपायों का भी आविष्कार किया गया था जिनसे न्याय की हत्या हो रही थी, अतः न्याय का

१. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥ १०१ ॥ आत्ममीमांसा

२. नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि। संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥ ३० ॥ न्यायावतार

शोधन और अन्याय का परिमार्जन करने के लिये यह आवश्यक था कि वीर प्रभु के अनेकान्त-वाद और अहिंसावाद के आधार पर सदुपायों की स्थापना की जाये और एकान्तवादियों के द्वारा अनेकान्तवाद पर किये गये आक्रमणों से उसकी रक्षा करने में उनका उपयोग किया जाये।

अकलंकदेव ने इस आवश्यकता और कमी का अनुभव किया और उसे पूर्ण करने में अपनी समस्त शक्ति लगा दी। सब से पहले उनका ध्यान जैनदर्शन की प्रमाणपद्धति की ओर आकर्षित हुआ। जैनदर्शन में प्रमाण के मूलभेद दो हैं एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। और उनकी सहायता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें प्रारम्भ के दो ज्ञान केवल रूपीपदार्थों को ही जान सकते हैं इसलिये इन्हें विकल्पप्रत्यक्ष के नाम से भी कहा जाता है। किन्तु केवलज्ञान त्रिकालवर्ती रूपी अरूपी प्रत्येक वस्तु को जान लेता है अतः इसे सकलप्रत्यक्ष भी कहते हैं। परोक्ष के दो भेद हैं मति और श्रुत। ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं। जैनधर्म में प्रमाणपद्धति की यही प्रचीन परम्परा है। इस प्राचीन परम्परा में आचार्य उमास्वाति ने थोड़ा सा विकास किया। उन्होंने अपने समय के प्रचलित स्मृति, संज्ञा (प्रत्य-भिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में करके जैनदर्शन में तार्किक प्रमाणपद्धति को स्थान दिया। इस कार्य में सूत्रकार ने बहुत दूरदर्शिता से काम लिया, कारण, जैनप्रमाणपरम्परा की प्रक्रिया और उसके नाम इतने विलक्षण थे कि इतर दार्शनिकों से उनका मेल खाना असम्भव था, तथा उसमें न्यायदर्शन के अनुमान उपमान आदि प्रमाणों का संकेत तक भी न था और चर्चा वार्ता में इन्हीं का प्रयोग बहुतायत से होता था। अतः इतर प्रमाणों का समन्वय करने की आवश्यकता संभवतः सूत्रकार के समय में उत्पन्न नहीं हो जितनी उनके उत्तराधिकारियों को हुई। उमास्वाति ने तार्किक परम्परा को मतिज्ञान में अन्तर्भूत करके अपने उत्तराधिकारियों को मार्गप्रदर्शन तो कर दिया किन्तु उससे प्रमाणपद्धति की गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकीं। सब से प्रबल समस्या थी इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष कहने की और उसके मतिज्ञान नाम की। जैनों के सिवाय किसी भी दार्शनिक ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष नहीं माना, सब उसे प्रत्यक्ष ही मानते थे। तथा उसका यह मति-ज्ञान नाम भी सब के लिये एक अजीब ही गोरखधन्धा था। यदि एक आधा दार्शनिक भी जैनों की इस परिभाषा और नाम में उनका सहयोगी होता तो भी एक और एक मिलकर दो हो जाते, किन्तु यहाँ तो अपने राम अकेले ही थे। इसलिये जिस किसी भी दार्शनिक के समक्ष ये अजीब बातें उपस्थित होतीं वही उनके उपस्थित कर्ता को नक्कू बनाता।

संभवतः दिवाकरजी के सन्मुख भी यह समस्या उपस्थित हुई थी इसी से न्यायावतार में प्रमाण के भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष की कुछ अजीब सी परिभाषा करने के बाद किसी के भेद प्रभेद बतलाये बिना केवल शाब्दप्रमाण और अनुमानप्रमाण का ही निरूपण उन्होंने किया है।

अकलंकदेव ने इस तथा अन्य समस्याओं को बहुत ही सुन्दर रीति से हल करके प्रमाण-विषयक गुत्थियों को सर्वदा के लिये सुलझा दिया। उन्होंने अपनी प्रमाणशैली का आधार तो वही स्थिर रक्खा जो उमास्वाति ने अपनाया था। तत्त्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' सूत्र को आदर्श मानकर उन्होंने भी प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद किये। किन्तु प्रत्यक्ष के विकल्प-

प्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष के स्थान में 'सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्ष इस प्रकार दो भेद किये, और इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि में से निकाल कर और सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर दिया। इस परिवर्तन से प्राचीन परम्परा को भी कोई क्षति नहीं पहुँची और विपक्षी दार्शनिकों को भी क्षोदक्षेम करने का स्थान नहीं रहा, क्योंकि प्राचीन परम्परा इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहती थी और इतर दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे। किन्तु उसे सांख्यवहारिक अर्थात् पारमार्थिक नहीं किन्तु लौकिकप्रत्यक्ष नाम दे देने से न तो जैनाचार्यों को ही कोई आपत्ति हो सकती थी क्योंकि परिभाषा और उसके मूल में जो दृष्टि थी वह सुरक्षित रखी गई थी, और न विपक्षी दार्शनिक ही कुछ कह सकते थे क्योंकि नाम में ही विवाद था, प्रत्यक्ष नाम दे देने से वह विवाद जाता रहा। मति को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लेने पर उसके सहयोगी स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध प्रमाण भी सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत कर लिये गये। किन्तु इन सहयोगी प्रमाणों में मन की प्रधानता होने के कारण सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष के दो भेद किये गये एक इन्द्रियप्रत्यक्ष और दूसरा अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष में मति को स्थान मिला और अनिन्द्रिय में स्मृति आदिक को। परसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर लेने से प्रत्यक्ष की परिभाषा में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई अतः उसकी आगमिक परिभाषा के स्थान में अति संक्षिप्त और स्पष्ट परिभाषा निर्धारित की—स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

मति स्मृति आदि प्रमाणों को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाते हुए अकलंकदेव ने लिखा है कि मति आदि प्रमाण तभी तक सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं, जब तक उनमें शब्दयोजना नहीं की जाती। शब्दयोजनासापेक्ष होने पर वे परोक्ष ही कहें जायेंगे और उस अवस्था में वे श्रुतज्ञान के भेद होंगे। इस मन्तव्य से प्रमाणों की दिशा में एक नवीन प्रकाश पड़ता है और उसके उजाले में कई रहस्य स्पष्ट हो जाते हैं। अतः उनके स्पष्टीकरण के लिये ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करना आवश्यक है।

गौतम ने अनुमान के—स्वार्थ और परार्थ—दो भेद किये थे, किन्तु उद्योतकर से पहले नैयायिक किसी व्यक्ति को ज्ञान कराने के लिये परार्थानुमान की उपयोगिता नहीं मानते थे। दिङ्नाग ने दोनों भेदों का ठीक ठीक अर्थ करके सबसे पहले स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के मध्य में भेद की रेखा खड़ी की। दिवाकरजी ने परार्थानुमान को जैन न्याय में स्थान तो दिया किन्तु

१ “प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसांख्यवहारिकम् । परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाण इति संग्रहः ॥३॥” लघीयक

२ “आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुराजसा । केवलं लोकबुद्धयैव मतेर्लक्षणसंग्रहः ॥” न्या० वि० ।

३ “मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥” तत्त्वार्थसूत्र

४ “तत्र सांख्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।” लघी० वि० कारि० ४ ।

५ “अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम् ॥” लघी० वि० का० ६१ ।

६ “ज्ञानमायं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम् । प्राह्वनामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥” लघीयक

७ देखो, प्रो० चिरविट्स्की का ‘बुद्धिस्ट लैजिक’ ।

उसका समन्वय करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। पूर्वपाद देवनन्दि ने इस ओर ध्यान दिया और प्रमाण के स्वार्थ और परार्थ दो भेद करके श्रुतप्रमाण को उभयरूप बतलाया, अर्थात् ज्ञानात्मक श्रुतज्ञान को स्वार्थ और वचनात्मक को परार्थ कहा, किन्तु शेष मति आदि प्रमाणों को स्वार्थ ही बतलाया। अकलंकदेव ने आगमिक परम्परा और तार्किक पद्धति को दृष्टि में रखकर उक्त प्रश्न को दो प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया। आगमिक परम्परा में तो उन्होंने पूर्वपाद का ही अनुसरण किया और श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक-दो भेद करके स्वार्थानुमान वगैरह का अन्तर्भाव अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान में और परार्थानुमान वगैरह का अन्तर्भाव अक्षरात्मक श्रुतज्ञान में किया। किन्तु तार्किक क्षेत्र में उन्हें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना पड़ा, क्योंकि श्रुतज्ञान का रूढ़ अर्थ तार्किक क्षेत्र में मान्य नहीं किया जा सकता था। सांख्य आदि दर्शनों में शब्दप्रमाण या आगमप्रमाण के नाम से एक प्रमाण माना गया था और वह केवल शब्दजन्य ज्ञान से ही सम्बन्ध रखता था, और श्रुतप्रमाण से भी उसी अर्थ का बोध होता था क्योंकि श्रुत का अर्थ 'सुना हुआ' होता है। अतः अकलंकदेव ने शब्दसंस्पृष्ट ज्ञान को श्रुत और शब्द-असंस्पृष्ट ज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष निर्धारित किया जैसा कि ऊपर बतलाया गया है।

लघीयस्त्रय में स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध प्रमाणों का अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में जो अन्तर्भाव किया गया है, उसके मूल में केवल एक ही दृष्टि प्रतीत होती है और वह दृष्टि है सूत्रकार का उन्हें मति से अनर्थान्तर बतलाना। सिद्धिविनिश्चय टीका के अवलोकन से भी यही प्रतीत होता है। अकलंक का मूल सिद्धिविनिश्चय और उसकी विवृति उपलब्ध होती तो इस सम्बन्ध में और भी विशेष प्रकाश डाला जा सकता था। किन्तु अकलंक के प्रमुख टीकाकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्द को न तो स्मृति^१ आदिक को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष मानना ही अभीष्ट था और न वे परम्परा के विरुद्ध केवल शब्दसंस्पृष्ट ज्ञान को ही श्रुत मानने के लिये तैयार थे। विद्यानन्द ने अपनी प्रमाँणपरीक्षा में अकलंक के मतानुसार प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष भेद करके भी अवग्रहादि धारणापर्यन्त ज्ञान को एक देश स्पष्ट होने के कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष माना है और शेष स्मृति आदि को परोक्ष ही माना है। तथा श्लोकेवार्तिक में लघीयस्त्रय की उक्त कारिका के मन्तव्य की आलोचना भी की है और 'शब्दसंस्पृष्ट ज्ञान को ही श्रुत कहते हैं' इस परिभाषा की रचना में भरुहरि के शब्दाद्वैतवाद को कारण बतलाया है, क्योंकि भरुहरि के मत से कोई ज्ञान शब्दसंसर्ग के बिना नहीं हो सकता था अतः उसका निराकरण करने के लिये कहा गया है कि शब्दसंसर्गरहित ज्ञान मति है और शब्दसंसर्गसहित ज्ञान श्रुत है। अकलंक के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि उन्होंने प्रमाणों के स्वार्थ और परार्थ भेद को मानकर भी स्वतंत्र रूप से कहीं अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेद नहीं किये, क्योंकि उनके मत से केवल अनुमान प्रमाण ही परार्थ नहीं होता है बल्कि इतर प्रमाण भी परार्थ होते हैं और वे सब श्रुत कहे जाते हैं।

१ "श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च, ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम् ॥" सर्वार्थ० पृ० ८।
 २ देखो, राजवार्तिक पृ० ५४। ३ "एवमनन्तरप्रस्तावद्वयेन अशब्दयोजनं स्मरणदिश्रुतं व्याख्यातम् ॥"
 सि० वि० टी० पृ० २५३ पृ०। ४ पृ० ६८-६९। ५ देखो 'श्रुति मतिपूर्वम्' सूत्र की व्याख्या।

अकलंक के प्रमाणविषयक उक्त मन्तव्यों का सार, संक्षेप में इस प्रकार है—

१ प्रत्यक्ष तीन तरह का होता है इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। इनमें प्रारम्भ के दो प्रत्यक्ष सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और अन्तिम पारमार्थिक।

२ मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान यदि शब्द-असंस्पृष्ट हो तो सांख्य-वहारिकप्रत्यक्ष के भेद हैं और यदि शब्द-संस्पृष्ट हों तो परोक्ष श्रुतप्रमाण के भेद जानने चाहिये।

३ दूसरों के द्वारा माने गये अर्थापत्ति, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव श्रुत प्रमाण में होता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि स्मृति आदि प्रमाणों को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान को केवल शब्दसंस्पृष्ट कहने पर भी अकलंक को स्मृति आदि का परोक्षत्व और श्रुतज्ञान का अनक्षरत्व अभीष्ट था और उनके ग्रन्थों में इसका स्पष्ट आभास मिलता है। उत्तरवर्ती जैन नैयायिकों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को तो एक मत से सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया, किन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अनिन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं माना, और इस प्रकार अकलंक ने सूत्रकार के मत की रक्षा करने के लिये जो प्रयत्न किया था वह तो सफल न हो सका किन्तु उनकी शुद्ध तार्किक प्रमाणपद्धति को सब ने एक स्वर से अपनाया।

परोक्षप्रमाण

परोक्ष प्रमाणों में, नैयायिक के उपमान प्रमाण की आलोचना करते हुए, अकलंक ने प्रत्यक्ष-भिज्ञानप्रमाण के एकत्व, सादृश्य, प्रतियोगी आदि अनेक भेदों का उपपादन किया। अविनाभाव-सम्बन्ध को व्याप्ति बतलाकर उसका साकल्येन ग्रहण करने के लिये तर्कप्रमाण की आवश्यकता सिद्ध की। साध्य और साध्याभास का स्वरूप स्थिर किया। हेतु और हेत्वाभास की व्यवस्था की। बौद्ध दार्शनिक हेतु के केवल तीन ही भेद मानते हैं स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि, किन्तु अकलंक ने उनके अतिरिक्त कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर को भी हेतु स्वीकार किया, तथा बौद्धों की तरह अनुपलब्धि हेतु को केवल अभावसाधक न मानकर, उसे उभयसाधक माना।

हेत्वाभास और जाति का जो विवेचन अकलंक के प्रकरणों में मिलता है वह उससे पहले के किसी जैन ग्रन्थ में नहीं मिलता। किन्तु उसे अकलंक की देन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कि अकलंक ने उसे अपने पूर्वज पात्रकेसरि के 'त्रिलक्षणकदर्थन' से लिया है। किन्तु यतः वह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है अतः अकलंक के हेत्वाभास और जाति का भी संक्षेप में दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा।

हेत्वाभास

नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानता है—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षसत्व, अबाधितविषय और असत्प्रतिपक्ष, अतः उसने पाँच हेत्वाभास माने हैं। बौद्ध हेतु को त्रैलुप्य मानता है अतः

१ लघीयल्लय का० १९, २१ की विवृति। २ लघीयल्लय का० ११। ३ न्या० वि० २-३। ४ न्या० वि० २-१७३। ५ लघी० का० १४। ६ इसके लिये देखो 'पात्रकेसरि और अकलंक' शीर्षक स्तम्भ। ७ नैयायिक के हेत्वाभासों पर दिङ्नाग का प्रभाव जानने के लिये प्रो० चिरविट्स्की का बुद्धिस्त लॉजिक दर्शनीय है।

उसने तीन ही हेत्वाभास माने हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। किन्तु जैन केवल एक अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का रूप मानते हैं अतः उनका हेत्वाभास भी यथार्थ में एक ही है। किन्तु अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक प्रकारों से देखा जाता है अतः हेत्वाभास के भी असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर भेद किये गये हैं। जो हेतु त्रिरूपात्मक होने पर भी अन्यथानुपपत्ति के अभाव से गमक नहीं हो सकते, उन सबको अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में गमित किया जाता है। किन्तु कोई कोई अकिञ्चित्कर को पृथक् हेत्वाभास नहीं मानते।

जाति

मिथ्या उत्तर को जाति कहते हैं, अर्थात् वाद के समय येन केनापि प्रकारेण प्रतिवादी को पराजित करने के लिये जो अस्तु उत्तर दिये जाते हैं उन्हें जाति कहते हैं। अकलंक ने अपने प्रकरणों में साधर्म्यसमा आदि जातियों का वर्णन नहीं किया और ऐसा करने में वे दो हेतु देते हैं—एक तो अस्तु उत्तरों का कोई अन्त नहीं है और दूसरा शास्त्रान्तर में उनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

जल्प या वाद

तैत्तिर्यार्थलोकवार्तिक से प्रता चलता है कि आचार्य श्रीदत्त ने जल्पनिर्णय नाम से एक ग्रन्थ की रचना की थी। इससे इस विषय को भी अकलंक की देन तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु एक तो वह ग्रन्थ अनुपलब्ध है और दूसरे, अकलंकदेव अपने समय के एक प्रबल वादी थे, तीसरे धर्मकीर्ति के वादन्याय की रचना के बाद उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रतिपादन किया था अतः उसमें बहुत कुछ मौलिकत्व होने की संभावना है।

न्यायदर्शन में कथा के तीन भेद किये हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। न्यायसूत्रकार के मत से वीतराग कथा को वाद और विजिगीषुकथा को जल्प और वितण्डा कहते हैं। किन्तु अकलंकदेव जल्प और वाद में अन्तर न मानकर वाद को भी विजिगीषुकथा में ही सम्मिलित करते हैं। और वास्तव में लोकप्रसिद्धि से भी यही प्रमाणित है, क्योंकि गुरु-शिष्य की वीतरागकथा को कोई वाद नहीं कहता। दो वादियों के बीच में जब किसी बात को लेकर नियमानुसार पक्ष और प्रतिपक्ष की चर्चा छिड़ती है तभी वाद शब्द का प्रयोग किया जाता है। न्यायसूत्रकार ने जल्प वितण्डा को विजिगीषुकथा मानकर, प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिये छल जाति आदि असदुपायों का अवलम्बन करने का भी निर्देश किया है। किन्तु धर्मकीर्ति और अकलंक एक स्वर से इसका विरोध करते हैं। वाद को चतुरङ्ग कहा जाता

१ “अन्यथासंभवाभावेनादात्तं बहुधा स्यूतः।

विशुद्धासिद्धसंदिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः॥” न्या० वि० २-१९६।

२ “अन्यथानुपपन्नत्वरहिताः ये त्रिलक्षणाः।

अकिञ्चित्कारकाः सर्वोः तात्पर्यं संशिरामहे॥” न्या० वि० २-२०१।

३ “असदुत्तराणामानन्त्यात् शास्त्रे वा विस्तरोक्तिः।

साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्वते॥” न्या० वि० २-२०६॥

द्विस्तुता जे भी ‘इस प्रकार के असदुत्तर अनन्त होते हैं’ लिखकर जातियों का वर्णन करने में विशेष तत्परता नहीं दिखलाई। बुद्धिष्ट लौकिक (चिरविदुस्की) पृ० ३४२। ४ पृ० २८०, का० ४५।

है क्योंकि उसके चार अङ्ग होते हैं—वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। अकलंकदेव ने सभापति के स्थान में राजा को वाद का अङ्ग माना है। इससे यही आशय व्यक्त होता है कि अध्यक्ष के आसन पर शक्तिशाली शास्त्रज्ञ पुरुष स्थित होना चाहिये जो वादी और प्रतिवादी को असद् उपायों का अवलम्बन करने से रोक सके।

जल्प और वाद को एक मान लेने से केवल एक वितण्डा ही शेष रह जाता है। वितण्डा-कथा में वादी और प्रतिवादी अपने अपने अपने पक्ष का समर्थन न करके केवल प्रतिपक्षी का खण्डन करने में ही लगे रहते हैं। अतः अकलङ्क ने उसे वादाभास कहा है। क्योंकि वाद में स्वपक्षस्थापन और परपक्ष-दूषण, दोनों का होना आवश्यक है।

वाद में सबसे मुख्य प्रश्न जय और पराजय की व्यवस्था का है। प्रतिपक्षी को निगृहीत करने के लिये न्यायदर्शन में २२ निग्रहस्थानों की व्यवस्था की गई है। और धर्मकीर्ति ने वादी और प्रतिवादी के लिये एक एक निग्रहस्थान आवश्यक माना है। यदि वादी अपने पक्ष को सिद्ध करते हुए किसी ऐसे अङ्ग का प्रयोग कर जाये जो 'असाधनैङ्ग' माना गया है या साधनाङ्ग को न कहे तो वह निगृहीत हो जाता है। इसी प्रकार वादी के अनुमान में दूषण देते हुए यदि प्रतिवादी किसी दोष का उद्घावन न कर सके या अदोष का उद्घावन करे तो वह निगृहीत कर दिया जाता है। अकलंक ने धर्मकीर्ति का खण्डन करते हुए इस प्रकार के निग्रह को अनुचित बतलाया है। वे कहते हैं—“वाद का उद्देश्य तत्त्वनिर्णय है। यदि वादी अपने पक्ष का साधन करते हुए कुछ अधिक कह जाता है या प्रतिवादी अपने पक्ष की सिद्धि करके वादी के किसी दोष का उद्घावन नहीं कर सकता तो वे निगृहीत नहीं कहे जा सकते। कहावत प्रसिद्ध है—‘स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषामावात्’। प्रमाण के बल से प्रतिपक्षी के अभिप्राय को निवृत्त कर देना ही सम्यक् निग्रह है। अतः जो वादी समीचीन युक्तिबल के द्वारा अपने पक्ष को सभ्यों के चित्त में अङ्कित कर देने में पटु है उसी की ही विजय मानना चाहिये, और जो चुप हो जाता है या अंठ संट बोलता है वह पराजित समझा जाना चाहिए।”

इस प्रकार स्वाधिगम और पराधिगम के निमित्तभूत प्रमाणों की व्यवस्थापना करके अकलंकदेव ने जैन न्यायशास्त्र को सुव्यवस्थित और सुसम्बद्ध किया। इसके अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग, मीमांसक, वैयाकरण और बौद्ध दर्शन के विविध मन्तव्यों पर सर्वप्रथम लेखनी चलाकर अपने उत्तराधिकारियों का मार्ग प्रशस्त किया।

अकलंक और इतर आचार्य

हम ऊपर बतला आये हैं कि अकलंक के पहले जैनन्याय की क्या रूपरेखा थी और उन्होंने उसमें किन किन सिद्धान्तों को सम्मिलित करके उसे पूर्ण और परिष्कृत बनाया था। तथा यह भी लिख आये हैं कि उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनका अनुसरण किया है। इन बातों पर विशेष प्रकाश डालने के लिये पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती जैन तथा जैनतर आचार्यों के साथ अकलंक के साहित्यिक सम्बन्ध की समीक्षा करना दर्शनशास्त्र के अभ्यासियों के लिये विशेष रुचिकर होगा और उससे वे जान सकेंगे कि साहित्य पर पूर्ववर्ती साहित्य का क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है

१ सिद्धिविनि० टी० पृ० २५६ उ०। २ न्या० वि० २-२१४।

३ असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्घावन के विविध अर्थों के लिये वादन्याय देखना चाहिये।

४ अष्टशती, अष्टसं० पृ० ८१ तथा न्या० वि० २-२०५, ९।

तथा उसकी रचना में उसके समकालीन तथा पूर्वकालीन विचारों का कहीं तक हाथ रहता है ? अतः जैन तथा जैनेतर आचार्यों के साथ अकलंक के साहित्यिक सम्बन्ध की समीक्षा क्रमशः की जाती है ।

अकलंक और जैनाचार्य

कुन्दकुन्द और अकलंक—कुन्दकुन्द सैद्धान्तिक थे और उनके समय में तर्कशैली का विकास भी न हो सका था । किन्तु अपने प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में उन्होंने द्रव्यानुयोग का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है और उसमें उनकी तार्किक प्रतिभा झलकती है । अकलंकदेव ने अपने राजवार्तिक और अष्टशती में द्रव्य, गुण, पर्याय और उत्पाद, व्यय, प्रौढ्य की जो चर्चा की है वह कुन्दकुन्द का ही अनुसरण करते हुए की है । कुन्दकुन्द लिखते हैं—“द्रव्य ही सत्ता है, सत् और द्रव्य दो पृथक् पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं ।” इसी बात को प्रकारान्तर से दोहरते हुए अकलंक भी कहते हैं—“द्रव्य क्षेत्र काल और भाव सत्ता के ही विशेष हैं, सत्ता ही द्रव्य है, सत्ता ही क्षेत्र है, सत्ता ही काल है और सत्ता ही भाव है ।” कुन्दकुन्द लिखते हैं—“उत्पाद व्यय और प्रौढ्य पर्यायों में होते हैं और पर्याय द्रव्यस्वरूप हैं अतः द्रव्य ही उत्पादव्ययप्रौढ्यात्मक है ।” इस सीधीसी बात को तार्किकदृष्टि से पल्लवित करते हुए अकलंक लिखते हैं—“उत्पत्ति ही नष्ट होता है, नश्वर ही स्थिर रहता है और स्थिर ही उत्पन्न होता है । और यतः द्रव्य और पर्याय अभिन्न हैं अतः—स्थिति ही उत्पन्न होती है, विनाश ही स्थिर रहता है, और उत्पत्ति ही नष्ट होती है ।” अष्टशती की व्याख्या करते हुए विद्यानन्द ने इस प्रकरण में ‘तथाचोक्त’ करके कुन्दकुन्द के पञ्चास्तिकाय के एक गाँथा की संस्कृत छाया उद्धृत की है । इससे प्रतीत होता है कि विद्यानन्द भी अकलंकदेव को उक्त विवेचन के लिये कुन्दकुन्द का ऋणी समझते थे । अतः अकलंक कुन्दकुन्द के अनुयायी थे और उनके ग्रन्थों का उनपर अच्छा प्रभाव था ।

उमास्वाति और अकलंक—दिगम्बरसमाज में आचार्य उमास्वाति, उमास्वामी नाम से भी प्रसिद्ध हैं । इन्होंने सबसे पहले जैनवाङ्मय को सूत्ररूप में निबद्ध करके तत्त्वार्थसूत्र की रचना की थी । वर्तमान में इस सूत्रग्रन्थ के दो पाठ पाये जाते हैं । एक पाठ दिगम्बर सूत्रपाठ कहलाता है और दूसरा श्वेताम्बर । दिगम्बर सूत्रपाठ के ऊपर अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक बृहद् ग्रन्थ की रचना की है । इस ग्रन्थ में उन्होंने स्थान स्थान पर श्वेताम्बर सूत्रपाठ की आलोचना भी की है । अकलंकदेव ने उमास्वाति के द्वारा निर्दिष्ट प्रमाणपद्धति का कितना और कैसा अनुसरण किया है यह हम पहले बतला आये हैं । उनके प्रमाणविषयक प्रकरणों का आधार ‘तत्प्रमाणे’ सूत्र है और ‘प्रमाण इति संग्रह’ लिखकर प्रत्येक प्रकरण में उन्होंने उक्त सूत्र का निर्देश किया है ।

१ “तम्हा दब्बं सयं सत्ता ॥” २-१३ ॥ प्रवचनसार

२ “सत्तैव विशिष्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना ।” अष्टशती, अष्टसं० पृ० ११३ ।

३ “उत्पादद्विदिग्भा विज्जंते पज्जएणु, पज्जाया ।

दब्बं हि संति णियदं तम्हा दब्बं हवदि सत्तं ॥” २-९ ॥ प्रवच०

४ “उत्पिस्सुखेव विनश्यति, नश्वर एव तिष्ठति, स्थासुखेवोत्पद्यते ।” अष्टश० अष्टसं० पृ० ११२ ।

५ “स्थितिरैवाप्यते, विनाश एव तिष्ठति, उत्पत्तिरेव नश्यति ।” अष्टश०, अष्टसं० पृ० ११२ ।

६ अष्टसहस्री पृ० ११३ । ७ गा० ८ ।